वर्ष ८, अंक १२ श्रीकृष्णाय नमः भाद्रपद पूर्णिमा १९९१

# ग्राहकों को सूचना

भक्ति का १२ वां अंक आपकी सेवा में पहुंच रहा है। इस के पहुंचने पर आपका चन्दा समाप्त हो जायगा। कृपा करके अगले वर्ष का वार्षिक चन्दा २) मनिआर्डर द्वारा भेजदें। इस अंक के साथ ही आपकी सुभीता के लिये एक छपा हुआ कार्ड भी भेजा जा रहा है। यदि किसी हेतु से आप अग्रिम वर्ष ग्राहक न रहना चाहें तो इस कार्ड को भेजकर सूचित करदें। जिससे कार्यालय को ≡)। की व्यर्थ की हानि न उठानी पड़े। यदि आप का कार्ड या मनिआर्डर कोई भी नहीं आवेगा तो प्रथमांक आपकी सेवा में वी० पी० द्वारा भेजा जायगा। कई ग्राहक न तो ग्राहक न रहने की सूचना ही भेजते हैं और न मनिआर्डर से रुपये और जब वी० पी० भेजा जाता है तो उसे वापिस कर देते हैं। इस प्रकार हमको व्यर्थ ही ≡)। की हानि उठानी पड़ती है। अतः ग्राहकों से निवेदन है कि जो ग्राहक न रहना चाहें वे इन्कारी का कार्ड भेज कर अवश्य कार्यालय को सूचित करदें। जिससे हम व्यर्थ की हानि से बच सकें।

मैनेजर

वार्षिक चन्दा २) सम्पादक ब्र० कृष्णानन्द, भूमानन्द एक प्रति ।)

REG DNo. .L 2077

# भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

१. भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता मूल्य ॥=)
२. भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त ... ,, ।=)

श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

मुद्रक तथा प्रकाशक भूमानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

वर्ष ८, अंक १२

श्रीकृष्णाय नमः

भाद्रपद पूर्णिमा १९९१

वार्षिक चन्दा २)

सम्पादक
म० कृष्णानन्द, भूमानन्द

एक प्रति ।)

# विषय सूची


| नं० | लेख | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| १. | वेदोपदेश ... ... ... ... ... ... | | ३५३ |
| २. | पुराणगाथा [ ले० श्री स्वामी भोले बाबा जी ... ... ... ... | | ३५४ |
| ३. | श्रीवत्स और भृगु पद [ ले० पं० बाबूलाल जी "साहित्य रत्न" | | ३५८ |
| ४. | श्रीवत्स और भृगु पद [ ले० श्रीमद्दावीर प्रसाद जी वज्रंगवली | | ३०१ |
| ५. | कसक ( कविता ) [ ले० श्री उमेश चतुर्वेदी ... ... ... ... | | ३६३ |
| ६. | महाराज जनक विदेह की संक्षिप्त जीवनी [ ले० भगवान श्री मथुराप्रसाद जी ... ... | | ३६४ |
| ७. | एक राजा और वैराग्यवान की कथा [ ले० पं० रामकुमार जी ... ... ... | | ३६६ |
| ८. | योग साधन [ ले० श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती ... ... ... ... | | ३६९ |
| ९. | नक्षत्राणामहं शशी [ ले० पं० मल्लीनाथ शर्मा ... ... ... ... | | ३७३ |
| १०. | तप [ ले० श्री महात्मा राम ... ... ... ... ... ... | | ३७७ |
| ११. | परब्रह्म परमात्मा [ ले० श्री यमुना प्रसाद जी श्री व स्तव ... ... ... | | ३७९ |
| १२. | ईश्वराज्ञा [ ले० श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी "विशारद" ... ... ... ... | | ३८२ |
| १३. | भजन ... ... ... ... ... ... ... | | ३९५ |


## आवश्यक निवेदन

अब तक "भक्ति" हिन्दी मास की पूर्णिमा पर प्रकाशित हुआ करती थी। अब कई एक कारणों से अङ्गरेज़ी मास की १ली तारीख़ से निकालने का निश्चय किया गया है। अतः ६ठें वर्ष का पहला अङ्क पाठकों की सेवा में १ नोम्बर को पहुंचेगा।

भक्ति के पाठकों से निवेदन है कि वे यदि एक एक नया ग्राहक बनादें तो भक्ति अपने पैरों पर खड़ी हो सकती है।

सम्पादक

# भक्ति के नियम

१. भगवान् की भक्ति का प्रचार करना, गो रक्षण और उसके लिए गोचर भूमि छुड़वाना, जलाशय बनवाना, मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा का प्रचार करना. वैदिक अनुभूत औषधियों का प्रचार करना, ग्रामों में परस्पर के झगड़े और वैमनस्य मिटा कर शान्ति व प्रेम बढ़ाना, सब संस्थाओं में भगवद्भक्ति और धर्म का भाव जाग्रत करना, राजा और प्रजा सब ही का हित चिन्तन करना।

२. यह पत्र प्रतिमास की पूर्णिमा को प्रकाशित हुआ करेगा।

३. अग्रिम वार्षिक चन्दा सर्व साधारण से २) होगा

४. जो महानुभाव २५) या इससे अधिक देंगे वह पक्षके संरक्षक और ५) देने वाले सहायक होंगे।

५. बाहर का कोई भी व्यापारिक विज्ञापन नहीं लिया जायगा।

६. लेखोंको प्रकाशित करना, न करना, घटाना व बढ़ाना सर्वथा सम्पादक के अधिकार में होगा।

७. लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नामसे और प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र व्यवहार मैनेजर भक्ति के नाम से होना चाहिए

८. जिन ग्राहकों के पास जिस मास की "भक्ति" न पहुंचे, उनको स्थानीय पोस्ट आफिस में पूछ कर उस मास की अमावस्या से पूर्व कार्यालय में सूचना भेजनी चाहिये। स्थानीय पोस्ट आफिस में बिना पड़ताल किये अथवा अमावस्या के बाद सूचना आने पर "भक्ति" नहीं भेजी जायगी।

९. पत्रोत्तर के लिये जवाबी, कार्ड भेजना चाहिए।

## भक्ति के संरक्षक और सहायक

| | |
|---|---|
| राव श्रीराम जी रईस नाभा | १२५) |
| भक्त नन्दकिशोर जी चर्खी दादरी | १२१) |
| ला० गोपालदास जी रईस लाहौर | १११) |
| धर्म सिंह मावजी जेठवा कोलरीप्रोप्राइटर झरिया | १००) |
| आनरेबिल डा० गोकलचन्द जी नारंग वज़ीर लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट लाहौर | १०१) |
| बाई बदामो देवी पुत्री लाला गनेशालाल चर्खीदादरी | १०१) |
| श्रीमती रानी निहालकौर धर्मपत्नी कप्तान राव बहादुर बलबीरसिंह जी | १०१) |
| राव बहादुर, कप्तान राव बलबीर सिंह जी ओ० बी० ई रामपुरा | ५१) |
| चौधरी शिवसहाय जी कोसली | ५१) |
| लाला श्यामलाल जी कपूर दिल्ली | ५१) |
| महाशय शोभाराम जी डूंगरवास | ५१) |
| डाक्टर भंवरभाई नारायणभाई देसाई महुवा जिला कैरा | २५) |
| पण्डित पन्नालाल जी तोपखाना नं० ५ अम्बाला | २५) |
| चौधरी उमराव सिंह रहाड़ी धौरज दिल्ली | १५) |
| पण्डित जयराम जी 'सनातन' दड़ली | ५) |
| जमादार दीपचन्द जी | ५) |
| मंगलसिंह गनर नं० ५ तोपखाना अम्बाला | ५) |

मोहन

GITA PRESS, GORAKHPUR.

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष ८ | श्रीभगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, भाद्रपद पूर्णिमा, सितम्बर १९३४ | अंक १२ पूर्ण संख्या ९६

# वेदोपदेश

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥ १ ॥

रक्षा के लिये हम इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और मरुद्गण को बुलाते हैं। जैसे संसार में लोग रथ को दुर्गम पथ से उद्धार कर लाते हैं, वैसे ही दान शील और वास गृहदाता देवता लोग हमें पापों से उद्धार कर पालन करें ॥ १ ॥

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देव पुत्रे ऋतावृधा ॥ २ ॥

जिनकी स्तुति सुख साध्य है, वे पितृगण हमारी रक्षा करें। देवों की पितृ मातृ स्वरूपा और यज्ञ वर्द्धयित्री द्यावा पृथिवी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

बृहस्पते सदमिन्नः सुगं कृधि शं योर्यत्ते मनुर्हितं तदीमहे ॥ ३ ॥

बृहस्पति देव ! हमें सदा सुख प्रदान करो मनुष्यों के रोगों के उपशम और भयों के दूरीकरण की जो उपकारिणी क्षमता तुममें है उसकी भी हम याचना करते हैं ॥ ३ ॥

देवैर्नो देव्यदितिर्निपातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उतद्यौः ॥ ४ ॥
ऋ० मं १ सूक्त १०६ मं, १, ३, ५, ७,

देवों के साथ अदिति देवी हमारा पालन करें। सब के रक्षक दीप्यमान सविता जागरूक हो कर हमारी रक्षा करें। मित्र, वरुण, सिन्धु, पृथिवी और आकाश हमारी यह प्रार्थना पूर्ण करें ॥ ४

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः ।
आवोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥ ५ ॥
ऋ० मं० १ सूक्त १०७ मं० १

हमारा यज्ञ देवों को सुखी करे। आदित्यगण तुष्ट हों। तुम्हारा अनुग्रह हमारी ओर प्रेरित हो और वही अनुग्रह दरिद्र मनुष्य के लिये, प्रभूत धन का कारण हो ॥ ५ ॥

---

# पुराण-गाथा

( ले० श्री पूज्य स्वामी गोले बाबा जी )

## हिरण्यकशिपु के विचार ।

नारद-हे शौनक ! शूकर मूर्ति हरि के हाथ से अपने भाई हिरण्याक्ष के मारे जाने पर हिरण्यकशिपु को बहुत ही शोक हुआ। क्रोध के कारण से दांतों से होठों को चबाता हुआ, लाल २ आंखों से देखता हुआ, शूल उठा कर सभा में दानवों से इस प्रकार कहने लगा:-

हिरण्यकशिपु-हे दानवो ! हे दैत्यो ! हे शिमूर्ध ! व्यक्ष ! शंबर ! शतबाहो ! हयग्रीव ! नमुचि ! पाक ! इलवल ! विप्रचित्ति ! पुलोमन् ! शकुनि आदि ! मेरे वचन सुनो और जैसा मैं कहूं, वैसा शीघ्र ही करो, देर मत करो ! मेरा प्यारा सुहृत् भाई क्षुद्र शत्रुओं ने मारडाला है। यद्यपि हरि सम स्वभाव वाले हैं, तो भी वे मेरे शत्रुओं का पक्ष लेते हैं। मेरे शत्रुओं का पक्ष ले कर ही उन्होंने मेरे भाई का वध किया है। यह हरि बालक के से स्वभाव वाले हैं, अस्थिर चित्त हैं, भजने वाले को भजते हैं,

शुद्ध तेजोमय हो कर भी माया से वराह रूप धर कर उन्होंने अपना स्वभाव छोड़ दिया है। मैं अपने शूल से उनका गला काट कर बहुत से रुधिर से अपने रुधिर प्रिय भाई को तृप्त करके शोक रहित होऊंगा। उस कण्ट रूप शत्रु के नष्ट होने पर जैसे वृक्ष की जड़ काटने पर वृक्ष की शाखायें सूख जाती हैं, इसी प्रकार विष्णु के प्राण देवता सूख जायेंगे। जब तक मैं ऐसा करूं तब तक तुम पृथिवी पर जाओ और तप, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और दान से वृद्धि को प्राप्त हुए ब्राह्मण और क्षत्रियों को मार डालो! यदि कहो कि उन्होंने क्या अपराध किया है, तो सुनो, द्विजों की क्रिया विष्णु का मूल है, इसलिये विष्णु, यज्ञ है, धर्म है और देवता, ऋषि, पितृ और भूतों का और धर्म का परायण है यानी परम आश्रय है, इसलिये यज्ञ रूप विष्णु के मूल होने से, मेरा अनादर करने से और विष्णु का आदर करने से ब्राह्मणादि वध करने के योग्य हैं। जहां २ द्विज, गाय, वेद, वर्ण, आश्रम और क्रिया हों, उस २ नगर को जाकर जला दो और वृक्षों को काट डालो!

नारद–हे शौनक! इस प्रकार भर्ता की आज्ञा शिर पर धारण करके वे दुष्ट दैत्य प्रजाओं को दुःख देने लगे, पुर ग्राम, व्रज, उद्यान क्षेत्र, याग, आश्रम, खान, किसानों के घर, आभीरों के घर, और पर्वतों के पास के ग्रामों को जलाने लगे। कितनों ने कुदाल फावड़े आदि से पुल, बाड़ी और नगर के फाटकों के घरों को जलती हुई लकड़ियों से जला दिया। दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपु के अनुचरों को इस प्रकार उपद्रव करते हुए देख कर देवता स्वर्ग को छोड़ कर छुप कर पृथिवी पर चले गये। हिरण्यकशिपु ने भाई के मरने से दुःखी हो कर उसकी पिण्डोदक आदि प्रेत क्रिया की और भाई के पुत्रों को आश्वासन दिया। शकुनि, शंबर, धृष्ट, भूत संतापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु, कच, कच की माता रुषाभानु और माता दिति को देश काल का ज्ञाता हिरण्यकशिपु इस प्रकार समझाने लगा।

हिरण्यकशिपु–हे अम्बे! हे वधू! हे पुत्रो! तुम सब को वीर हिरण्याक्ष का सोच न करना चाहिये, क्योंकि रण में शत्रु के संमुख शूरों का मरना प्रशंसनीय है। हे सुव्रते! इस संसार में प्राणियों का संयोग वियोग प्याऊ पर एकत्र हुए पथिकों के समान है। अपने २ कर्म से प्राणि यहां आ जाते हैं और चले जाते हैं, इसलिये लोक दृष्टि से शोक करना उचित नहीं है और तत्वदृष्टि से तो शोक का कुछ काम ही नहीं है। आत्मा नित्य है यानी मृत्यु रहित है, अव्यय है यानी अपक्षय से रहित है, शुद्ध है यानी निर्मल है, सर्व-गत है यानी सर्वत्र व्यापक है। सर्ववित् है यानी सर्वज्ञ है, देहादि से भिन्न है, इसलिये आत्मा मर गया, दुर्बल हो गया, मलिन हो गया, वियुक्त हो गया, अज्ञ हो गया ऐसा मान कर शोक न करना चाहिये। यदि कोई कहे कि जब आत्मा नित्य अव्यय आदि है, तो फिर उसे संसार कैसे हो जाता है। तो उसका उत्तर यह है कि यह आत्मा अपनी माया से यानी अपनी अविद्या से लिंग को यानी मूर्ति को धारण करता है और गुणों को यानी ऊंची नीची देहों को और सुख दुःख आदिकों को विशेष रूप से स्वीकार करता है। भाव यह है कि लिंग शरीर की उपाधि से संसार है, परमार्थ से नहीं है। जैसे नदी के जल के चलने से नदी के किनारे के वृक्ष चलते हुए से प्रतीत होते हैं यानी जल में प्रतिबिम्बित वृक्षों के धर्म यानी उपाधि के धर्म जल के किनारे के वृक्षों में यानी उपहित में

भासते हैं और जैसे नेत्रों के घूमने से पृथिवी घूमती हुई प्रतीत होती है यानी ग्राहक चक्षु के धर्म ग्राह्य पृथिवी में भासते हैं, इसी प्रकार हे मुने! गुणों से मन के घुमाये जाने पर परिपूर्ण पुरुष भी मन की साम्यता को प्राप्त हो कर अलिंग यानी लिंग रहित हो कर भी लिंगवान् सा हो जाता है। अलिंग में लिंग की भावना ही आत्मा का विपर्यास है यानी अन्य से अन्य हो जाना है, यह ही प्यारे का योग और वियोग है, यह ही कर्म है और यही संसार यानी जन्म मरण है। जन्म, नाश, शोक, अविवेक चिन्ता और विवेक की स्मृति न रहना, ये सब भी इसी से हैं। इस सम्बन्ध में एक पुरातन इतिहास यम का और प्रेत के बांधवों का संवाद मैं तुम को सुनाता हूं, उसको सुनोः-

उशीनर नाम के देशों में सुयज्ञ नाम का एक राजा प्रसिद्ध था। शत्रुओं ने उसे युद्ध में मार डाला उसके बांधव उसे घेर कर बैठे हुए थे। उसका रत्नमय कवच फट गया था, आभूषण और हार बिखर गये थे, बाणों से हृदय भेदन किया हुआ था और रक्त से भरा हुआ पृथिवी पर पड़ा हुआ था। उसके केश फैले हुए थे, आंखें बन्द थीं क्रोध से ओठों को चाब रहा था, मुखकमल धूल से भरा हुआ था, भुजा और आयुध युद्ध में कट गये थे। इस प्रकार बुरी दशा में पड़े हुए अपने पति को देख कर पटरानियां हाथों से छाती पीट रहीं थीं और 'हा नाथ' 'हा नाथ!' ऐसा कह कर पत के पदों के समीप में पड़ी हुई रो रहीं थीं। खुले हुए केश और आभूषणों वाली चिल्ला २ कर रोती हुई, कुचों के कुंकुम से लाल हुए आंसुओं से अपने प्यारे के चरण कमलों को सींचती हुई, डकार २ कर विलाप कर रहीं थीं, उनको देख कर मनुष्यों को शोक होता था।

विलाप-हे प्रभो! बड़े शोक की बात है कि निर्दयी विधाता ने आप को उशीनरों का जीविका देने वाला बनाया था और अब उसी विधाता ने आप को हमारे शोक का बढ़ाने वाला कर दिया है। हे महीपते! आप कृतज्ञ और सुहृत्तम के बिना हम कैसे जीवेंगी? इसलिये हे वीर! जहां आप जाते हैं, वहाँ आपके चरणों की सेवा करने वाली हमको भी ले चलिये! जैसे जल के बिना नदी शोभा नहीं देती, इसी प्रकार आप स्वामी के बिना हम किंकरियों की शोभा नहीं रही, आप के बिना इस संसार में हमारा जीवन व्यर्थ है, व्यर्थ जीवन से तो मर जाना ही हजार गुणा श्रेष्ठ है। मरने में कुछ कष्ट नहीं है, आप भर्ता के बिना जीने में तो पद २ पर कष्ट का सामना होगा, बारम्बार कष्ट पाने से एक बार मरने का कष्ट सह लेना श्रेष्ठ है।

हे मातेश्वरी! हे वधू! इस प्रकार मरे हुये पति को पकड़ कर विलाप करती थी और पति का दाह कर्म करना नहीं चाहती थी इतने में सूर्य अस्त होने लगा। प्रेत के बंधुओं का रुदन सुनकर यमराज बालक होकर वहां आगये और इस प्रकार कहने लगे।

यम—ओहो! कैसे आश्चर्य की बात है, यह सब मुझ से उमर में बड़े हैं, फिर भी इन की मूर्खता को देखो! मनुष्य जहां से आया था, वहाँ ही चला गया, ये सब आप भी एक न एक दिन जहाँ से आये हैं, वहाँ ही चले जायेंगे, फिर भी व्यर्थ ही सोच कर रहे और दुःखी हो रहे हैं। अहा हा! मैं ही धन्य हूं, धन्यतम हूं! माता पिता ने मुझे यहां अकेला वन में छोड़ दिया है दुर्बल हूं, बालक हूं, असमर्थ हूं, फिर भी मुझे भेड़िये आदि ने नहीं खाया, इस लिये मैं सोच नहीं करता,

क्योंकि जिस ने मेरी गर्भ में रक्षा की थी, वह ही यहां भी मेरी रक्षा करता है। हे अबलाओ! जो अव्यय ईश्वर अपनी इच्छा से इस विश्वको उत्पन्न करता है, जो रक्षा करता है और जो इस का संहार करता है, उस ईश्वर का यह चराचर जगत् खेल है, वह ही इस जगत के निग्रह यानी संहार करने में और संग्रह यानी पालन करने में समर्थ है। यदि पूछो कि वह कैसे समर्थ है, तो सुनो, मार्ग में गिरा हुआ ईश्वर से रक्षित हुआ सुरक्षित रहता है और घरमें रखा हुआ ईश्वर से रक्षा न किया हुआ, नष्ट हो जाता है, अनाथ भी वन में ईश्वर से रक्षित हुआ जीता रहता है और घर में रक्षित भी ईश्वर का मारा हुआ नहीं जीता। इस प्रकार आत्मा के जन्म मरणादि अंगीकार करें, तो भी सोच न करना चाहिये, क्योंकि जन्म मरणादि ईश्वराधीन है और परमार्थ से तो अपने २ सूक्ष्म शरीर के निमित्त से किये हुये कर्मों से देह कभी उत्पन्न होते हैं और कभी नष्ट हो जाते हैं, आत्मा तो प्रकृति में स्थित हुआ भी प्रकृति के गुणों से नहीं बन्धता यानी देह के धर्म जन्मादि से युक्त नहीं होता, क्योंकि वह देह से अत्यन्त भिन्न है।

हे अबलाओ! पुरुष का यह शरीर मोह से उत्पन्न हुआ है यानी अविवेक से आत्म रूप से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः तो आत्मा से भिन्न है, क्योंकि घर के समान दृश्य है और भौतिक है। यहां ऐसा प्रयोग है कि द्रष्टा और अभौतिक पुरुष से शरीर भिन्न है, दृश्य होने से और भौतिक होने से, जैसे घर के स्वामी से घर भिन्न है। जैसे जल के परमाणुओं से उत्पन्न हुये बुदबुदादि, पृथिवी के परमाणुओं से उत्पन्न हुये घटादि और तेजस सुवर्ण से उत्पन्न हुये कुण्डलादि नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार के परमाणुओं से बना हुआ देह परिणाम को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है, आत्मा नष्ट नहीं होता। जैसे लकड़ियों में स्थित अग्नि दाहक और प्रकाशक रूप से भिन्न ही प्रतीत होता है, जैसे देह में स्थित भी वायु मुख नासिका आदि में भिन्न स्थित हुआ प्रतीत होता है और जैसे सर्वगत आकाश किसी से सक्त नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा देहादिकों का आश्रय यानी अधिष्ठान होने से उन से भिन्न है।

हे मूर्खाओ! यह तुम्हारा भर्ता सुखसे सो तो रहा है, फिर क्यों सोच करती हो? यदि कहो कि पहले यह सुनता था और बोलता था, अब सुनता और बोलता नहीं है, तो सुनने वाला और बोलने वाला तो इस देह में कभी देखने में नहीं आता और न आ सकता है। यदि कहो कि मुख और नासिका में चलने वाला प्राण श्रोता और वक्ता देखा ही है, तो सब इन्द्रियों की चेष्टा का हेतु मुख्य प्राण भी श्रोता वक्ता नहीं है, देह और इन्द्रियों से इन्द्रियों के विषयों को देखने वाला आत्मा चेतन होने से अचेतन देह और प्राण से भिन्न है। यदि कहो कि जब आत्मा चेतन है और देह से अन्य है, तो मैं कृश हूं, स्थूल हूं, काना हूं, बहिरा हूं, इत्यादि देहादि के धर्म आत्मा में क्यों प्रतीत होते हैं, तो उस का उत्तर यह है कि भूत, इन्द्रिय और मन से प्रतीत होने वाली ऊंची, नीची देहों को देहों से भिन्न आत्मा भजता है यानी मैं हूं' ऐसा मानता है और अपने तेज से यानी अपने विवेक के बल से फिर उन्हें छोड़ देता है। भाव यह है कि देह को आत्मा रूप से ग्रहण करने और त्यागने में विद्वानों का अनुभव प्रमाण है। जब तक आत्मा लिंग शरीर के अभिमान से युक्त रहता है, तब तक बन्धन के हेतु कर्म होते हैं, जब तक कर्म होते हैं, तब तक देह के धर्म कर्ता भोक्ता आदि होते हैं, जब

तक देह के धर्म रहते हैं, तब तक क्लेश होते हैं और जब लिंग देह का अभिमान निवृत्त हो जाता है, तब देह के धर्मादि निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि वे माया के योग से हैं, परमार्थ से नहीं हैं। देह को सच्चा मानना, यह मिथ्या अभिनिवेश है, जैसे मनोरथ और स्वप्न मिथ्या हैं, इसी प्रकार सब इन्द्रियों का व्यवहार मिथ्या है। इसलिये देह को अनित्य और रूपात्मा को नित्य जानने वाले शोक नहीं करते, यदि कहो कि ऐसा उपदेश करने वाले शोक करते हुये देखने में आते हैं, तो उसका उत्तर यह है कि ज्ञान दृढ़ न होने के कारण से स्वभाव निवृत्त नहीं होता और जब तक ज्ञान दृढ़ न हो, तब तक स्वभाव बदलता नहीं है।

पक्षियों के मारने वाले एक व्याध ने एक वन में पक्षियों को पकड़ने के लिये जाल फैलाया। कुलिंग का एक जोड़ा वहां आया और कुलिंगी जाल में फंसगयी। कुलिंगी को जाल में फंसी हुई देख कर कुलिंग बहुत दुःखी हुआ और छुड़ाने को असमर्थ होने से एक वृक्ष की शाखा पर जाकर विलाप करने लगा।

शोक है! अकरुण और विभु देव इस कृपण, दीन, दया वाली, मेरे लिये सोच करने वाली मेरी स्त्री को ले जाकर क्या करेगा? देव भलेही मुझे ले जाय, मेरे आधे अंग को ले जाकर क्या करेगा? अब मैं भार्या से रहित विधुर होकर जी कर क्या करूंगा? माता से हीन बिना पंख के बच्चों को मैं कैसे पालूंगा? मेरे मन्द भाग्य वाले बच्चे घोंसले में अपनी माँ की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इस प्रकार विलाप करता हुआ, प्रिया वियोग से आतुर, रोता हुआ कुलिंगपक्षी मारने वाले के बाण से विंध कर मर गया। जैसे कुलिंग ने अपनी मृत्यु नहीं जानी, इसी प्रकार हे मूर्खाओ! तुम भी अपनी मृत्यु को नहीं जानतीं. जिस पति का तुम शोच कर रही हो, वह सैकड़ों वर्षों तक सोच करने से भी नहीं आ सकता, जो दिन गया सो गया, जो मर गया, सो मर गया, फिर नहीं आता।

हिरण्यकशिपु—यम रूप बालक के ऐसा कहने पर सब विस्मित हुये और इस संसार को मिथ्या जानने लगे। यमराज इतना कहकर अंतर्धान होगये और ज्ञाति वालों ने सुयश राज की प्रेत क्रिया करी। हे बांधवो! तुम भी अपने और पराये का शोच मत करो। यहां आप या दूसरा कौन है और अपना और पराया कौन है? कोई नहीं है। अपना और पराया, यह ही अज्ञान है, अन्य अज्ञान नहीं है।

नारद—हे शौनक! दैत्य पति हिरण्यकशिपु के ऐसे तत्त्वदर्शक और वैराग्य युक्त वाक्य सुनकर पुत्र वधू सहित दिति पुत्र का शोक त्याग कर तत्त्व में चित्त लगा कर सुखी हुई। सच कहा है।

दो०—सुख कारण वैराग्य है, दुःख हेतु जग राग।
चित्त टिका नहं तत्त्व में, सदा जगत् तहं भाग॥

## श्याम

[ ले० पं बाबूलाल जी भार्गव "साहित्य रत्न" ]

कोऊ कहें–भादों की अन्धेरी रैन जन्म लियो,
बातें भये श्याम रंग ऐसी! नन्दलाल है।
कोऊ कहें–कालिया विषैलो नाग-नाथन में-
मारी फुतकार सोई भासैं विष जाल है॥
कोऊ कहें–दासन के पातक समूह लीन्हि,
आप ओढ़ लीन्हें भये बातें कारी खाल हैं।
झूठी सब, भासैं मोहि-बीसविसे श्याम भये,
राधा कलरारे दृग बास कै कै लाल हैं॥

# श्रीवत्स और भृगुपद

[ ले० श्री महावीर प्रसाद (वत्सगोत्री) "श्रीवास्तव" ]

भगवान् के वक्षस्थल में 'श्रीवत्स' और 'भृगु-पद' दो चिन्हों का वर्णन आर्ष ग्रन्थों में आया है।

'भृगुपद' चिन्ह त्रिदेव गत विष्णु का चिन्ह है एक बार ऋषियों में परस्पर इस बात पर विवाद हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीन देवताओं में सब से महान् कौन है? इस पर भृगुमुनि ने तीनों देवों की परीक्षा की। ब्रह्मा और शिव दोनों में क्रोध पाया गया। पुनः जब उन्होंने भगवान् विष्णु की छाती पर चरण का प्रहार किया। और भगवान् ने अपनी क्षमाशीलता तथा ब्राह्मण्य देव होने का अद्भुत परिचय दिया, तब उन्हों ने विष्णु भगवान् को ही महान् निश्चय किया। यह कथा श्रीमद्भागवत् दशम स्कंध अध्याय ८९ में वर्णित है। और यही भृगुपद चिन्ह की कथा है अर्थात् भृगु के चरण प्रहार से भगवान् की छाती पर जो उनके चरण का चिन्ह बन गया, यही भृगुपद चिन्ह है भगवान् ने अपने ब्राह्मण्यदेव पन को प्रकाशित करते हुये उस रूप में, इस चिन्ह को सदा के लिये धारण कर लिया।

अवतार शरीर में भी, देवताओं के परम सहायक त्रिदेवगत विष्णु के साथ अपना ऐक्य सूचित करने के लिये प्रभु इस चिन्ह को धारण करते हैं जैसा कि मानस रामायण में भी स्पष्ट है—

उर मनि हार पदिक की शोभा।
बिप चरण देखत मन लोभा॥
शारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो।
भुज दण्ड पीन मनोहरायत उर धरा सुर पद लस्यो॥
केकी कंठाभनीलं सुरवर विलसद्विप्रपादाब्ज चिन्हं।
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम्॥
पाणौ नाराचचापं कपि निकर युतं बन्धुना सेव्यमानम्।
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम्॥

'श्री वत्स' भगवान् का स्वरूप सम्बन्धी नित्य चिन्ह है यह भगवान् के वक्षस्थल में, दक्षिण भाग में, पीत रोमावलि के रूप में स्वयं श्री जी का स्वरूप, चिन्ह रूप से है। यथा—

लक्ष्मीवक्षोलभ्य सौभाग्यस्य चिन्हं श्रीवत्सः।
महापुरुष लक्षण श्वेत रोमावर्त विशेष इति॥
पीतं प्रदक्षिणावर्त्तं विचित्रं रोम राजिकम्।
विष्णोर्वक्षसि यदीप्तं श्रीवत्सं तत्प्रकीर्तितम्॥
श्री हरिवाचार्य्य जी

कहीं २ पीत रोमावली की जगह श्वेत रोमावली कहा है। यथा—
विष्णु सहस्र नाम भाष्ये।

व्युत्पत्ति, वदति महत्वमिति वत्सः श्री युक्तो वत्सः श्रीवत्स श्रीवत्सो महत्व लक्षणं श्वेत रोमावर्त विशेषो लाञ्छनम्॥

इस प्रकार भगवान् के उर में सनातन मुख्य चिन्ह श्री वत्स ही है भृगुपद चिन्ह का सम्बन्ध विशेष कर त्रिदेव गत विष्णु रूप से है। आर्ष ग्रन्थों में जहां २ पर स्वरूप की ओर लक्ष्य करके भगवान् का ध्यान वर्णन किया गया है, वहां वहां वक्षस्थल में 'श्री वत्स' का ही वर्णन आया है। ऐसे अवसरों पर 'भृगु पद चिन्ह' का वर्णन कहीं नहीं पाया जाता। प्रमाण के लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

१-सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी को भगवान् के पर स्वरूप का दर्शन हुआ था। वहां भगवान् के रूप वर्णन में श्रीवत्स ही आया है। यथा-

कदंब किंजल्कपिशंग वाससा स्वलंकृतं मेखलया नितंबे।
हारेण चानंत धनेन वत्स श्रीवत्स वक्षः स्थलवल्लभेन॥

श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अध्याय ८

२-भगवान् कपिल ने देवहुती जी को भगवान् के पर स्वरूप के ध्यान का उपदेश किया है, वहां पर भी श्रीवत्स ही आया है। यथा-

तप्तांकन किंजल्क पीत कौशेयवाससम्।
श्रीवत्सवक्ष सज्राजत्कौस्तुभामुक्त कंधरम्॥

श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अध्याय २८

३-जन्म समय देवकी जी को भगवान् ने पर स्वरूप का दर्शन दिया था। वहां पर भी श्री रूप ही आया है। यथा-

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंख गदार्युदायुधम्।
श्रीवत्स लक्ष्मंगल शोभि कौस्तुभ पीतांबरं सान्द्रपयोद सौभगम्

श्रीमद्भागवत स्कंध १० अध्याय ३

४-तुलसीकृत रामायण में मनु शतरूपा को 'नित्य साकेत विहारी पर स्वरूप' का दर्शन हुआ था, वहां पर रामायण जी में भी श्रीवत्स ही आया है। यथा-

उर श्रीवत्स रुचिर बन माला।
पदिक हार भूषण मणि जाला॥

किन्हीं २ सज्जनों का यह अनुमान है कि भृगु पद चिन्ह का ही दूसरा नाम श्रीवत्स है। पर यह अनुमान ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वाचार्यों ने 'श्रीवत्स' चिन्ह को स्वयं श्री जी का रूप माना है। श्री यमुनाचार्य्य जी कृत आलवंदार स्तोत्र से ही यह बात स्पष्ट है। यथा-

चकार्थं यस्या भवनं भुजान्तरं तव प्रियं धाम यदीय जन्म भूः।
अगाधमस्तं यदपांग संश्रयं यदर्थमम्भोधिरमस्य बन्धु च॥

अर्थ-जिन श्रीलक्ष्मी जी का भवन आप का भुजान्तर (वक्षस्थल) है। और जिन की जन्म भूमि (क्षीर समुद्र) आप का प्रिय धाम है। जिन के द्वारा ही आप जगत् को करते हैं। जिनके अर्थ आप ने समुद्र का मथन किया और (श्रीरामावतार) में बांधा। उपरोक्त श्लोक में भुजान्तर (वक्षस्थल) में लक्ष्मी जी का भवन कहने से तात्पर्य्य श्री वत्स से ही है:-

और इतना ही नहीं, किन्तु श्रीमद्भागवत् में भी कहीं २ श्रीवत्स के लिये श्रीवत्स भी न कह कर स्पष्ट रूप से केवल 'श्री' शब्द ही आया है। यथा:-

विन्यस्त चरणाम्भोजमंस देशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा लोकस्थितं वक्षः श्रियं कौस्तुभ कंधरम्॥

श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अध्याय २१

इतने पर भी कोई २ सज्जन पुनः आशंका करते हैं कि कदाचित् इन श्लोकों में श्री जी के भगवान् के हृदय में निवास करने का तात्पर्य्य हो, चिन्ह का तात्पर्य्य शायद यहां न हो। इसलिये यदि कोई ऐसा प्रमाण मिले, जहां पर 'श्री' शब्द के साथ लक्ष्य या चिन्ह सूचक कोई शब्द आया हो, तो विशेष रूप से संतोष हो सकता है।

उपरोक्त प्रमाणों को भी देख कर पुनः शंका उठाना यद्यपि बिलकुल असंगत है क्योंकि उपरोक्त आलवंदार स्तोत्र के श्लोक में 'चकार्थं यस्या भवनं-भुजांतरं' में 'भुजान्तरम्' का अर्थ अन्तः करण किसी प्रकार नहीं हो सकता। किन्तु हृदय का ऊपरी भाग अर्थात् वक्षस्थल ही 'भुजांतरम्' का अर्थ हो सकता है। भुजा के अन्तर में हृदय का ऊपरी भाग वक्षस्थल ही है न कि अन्तः करण। साथ ही श्रीमद्भागवत के श्लोक में भी 'वक्षः

श्रियं कौस्तुभकंधरम्' में कौस्तुभ कंधर के जोड़ में 'वक्षः श्रियं' आया है जो शरीर में प्रकट 'श्रीवत्स चिन्ह' का ही बोधक हो सकता है। जो कि कौस्तुभ की भांति वक्षस्थल का भूषण, तथा भक्तों के ध्यान करने का पदार्थ है।

पर तो भी जिन सज्जनों को इतने पर भी सन्तोष न हो, उनके संतोष के लिये उस प्रकार के प्रमाण भी दिये जाते हैं, जिनमें श्री शब्द के साथ ही लक्ष्म (चिन्ह) का शब्द भी स्पष्ट रूप से पाया जाता है। यथा—

मुक्तामलिप्रतलिन तारकतति श्रीलक्ष्म वक्षस्थली।
सूक्ष्मोपस्करदर्पण प्रतिफलत्सीतास्य शीतद्युतिः
अंकालंकृति मैथिली स्मितसमुन्मीलत्कपोलस्थली।
रत्नाऽऽदर्श विशालसन्नवदनो देवः प्रसन्नस्तुत नः
श्री जानकी चरण चारण

इस श्लोक में 'श्री' के साथ लक्ष्म अर्थात् चिन्ह शब्द भी स्पष्ट है। जो सज्जन इस रहस्य ग्रंथ से परिचित नहीं हैं उनके लिये और श्रीमद्-भागवत् का श्लोक ही प्रमाण में दिया जाता है।

उन्निद्र हृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापित पादपल्लवम्
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभ रत्न कंधरमम्लानलक्ष्म्या वनमाल्यावितम्

श्रीमद्भागवत स्कंध २ अध्याय २

इस श्लोक में भी 'श्री' शब्द के साथ ही लक्ष्मणं अर्थात् चिन्ह शब्द भी आया है।

इस प्रकार 'श्रीवत्स' चिन्ह स्वयं श्री जी का स्वरूप है, यह बात आर्ष ग्रन्थों में बिलकुल स्पष्ट है।

जिन सज्जनों ने श्रीवत्स चिन्ह के लिये भृगु पद चिन्ह का ही दूसरा नाम होने का अनुमान कर रक्खा है उनमें से कतिपय सज्जन 'श्रीवत्स चिन्ह का निम्नलिखित रीति पर अर्थ करके भृगु पद चिन्ह के साथ अर्थ का ऐक्य स्थापित करते हैं—

श्री अर्थात् लक्ष्मी + वत्स अर्थात् पुत्र तात्पर्य्य लक्ष्मी के पुत्र का चिन्ह।

लक्ष्मी के पुत्र से वे ब्राह्मण का अर्थ लेते अब यहां पर विचारणीय बात यह है कि लक्ष्मी जी तो जगत् की माता हैं। सभी उनके पुत्र हैं फिर 'श्रीवत्स चिन्ह' का अर्थ करने में एक मात्र ब्राह्मण ही उन के पुत्र माने जांय, ऐसा क्यों?

फिर यदि आवश्यकता ही पड़ती हो, और आर्ष ग्रंथों में किसी विशेष प्रसंग के सम्बन्ध से केवल ब्राह्मणों को ही लक्ष्मी जी के पुत्र मान लेने के लिये स्थान भी मिल जाता तो, तो मान लेने में कोई हर्ज भी नहीं है, पर श्रीवत्स के विषय में तब आर्ष ग्रन्थों में भी यही स्पष्ट है कि 'श्रीवत्स' स्वयं श्री जी का चिन्ह है और पूर्वाचार्य बराबर ऐसा ही मानते आये हैं, तो फिर अर्थ के लिये ऐसी क्लिष्ट कल्पना का प्रयोजन ही क्या है? फिर जहाँ पर 'श्रीवत्सांक' या 'श्रीवत्सलक्ष्म' आया है, वहां भले ही 'श्री वत्सलक्ष्म' को 'श्री जी के पुत्र ब्राह्मण का चिन्ह' अर्थ लगा लिया जाय, पर जहां केवल 'श्रीवत्स' शब्द ही आया है लक्ष्म अंक अथवा चिन्ह सूचक कोई दूसरा शब्द साथ में नहीं आया, वहां कौनसी कल्पना की जायगी? जैसे 'उर श्रीवत्स रुचिर वन माला' में 'उर श्रीवत्स' का अर्थ 'छाती में श्री जी के पुत्र ब्राह्मण' यह कैसा अर्थ होगा और इस अर्थ में भृगु पद चिन्ह का अर्थ भी कैसे घटेगा? ऊपर लिखे हुये प्रमाणों में कोई जगह केवल श्रीवत्स ही आया है। साथ में अंक लक्ष्म या चिन्ह सूचक कोई शब्द नहीं आया फिर इनके अतिरिक्त भी जहां पर वत्स का शब्द भी न आ कर श्रीवत्स चिन्ह के लिये केवल 'श्री' या 'श्रीलक्ष्म' आदि शब्द आये हैं, वहां पर 'श्री' या 'श्री लक्ष्म' का अर्थ 'लक्ष्मी के पुत्र' कैसे

होगा ?

सारांश यह कि 'श्रीवत्स' का अर्थ भृगुपद चिन्ह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

'श्रीवत्स चिन्ह स्वयं श्री जी का स्वरूप है भृगुपद चिन्ह की कुछ और ही बात है ! वह भृगु के चरण का चिन्ह है।

'श्रीवत्स चिन्ह' को 'भृगु पद चिन्ह' का ही दूसरा नाम अर्थात् पर्य्याय अनुमान करने वाले सज्जन अपने अनुमान की पुष्टि के लिये स्कन्द पुराण की प्रचलित सत्य नारायण की कथा के प्रारंभ में लिखी हुई पूजन विधि का निम्न लिखित श्लोक प्रमाण में देते हैं।

नीलवर्णं पीतवस्त्रं श्रीवत्स पदभूषितम्।
गोविंद गोकुलानन्द ब्रह्मायैरपि पूजितम् ॥

इस श्लोक में 'श्रीवत्स पद' का श्री अर्थात् लक्ष्मी जी उनके वत्स अर्थात् पुत्र 'ब्राह्मण' उनका पद अर्थात् चरण इस प्रकार अर्थ करके श्रीवत्सपद का ब्राह्मण का चरण अर्थ करते हैं। पर यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि पद शब्द का केवल चरण ही अर्थ नहीं है, किन्तु पद शब्द के कई अर्थ हैं। यथा,

'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु'।
अमरकोश

अर्थात् पद शब्द के व्यवसाय, रक्षास्थान चिन्ह चरण, तथा वस्तु, ये अर्थ हुआ करते हैं। अब पद शब्द के अमरकोश के अनुसार उपरोक्त कई अर्थों में से उक्त श्लोक के श्रीवत्सपद में शब्द का, चिन्ह अर्थ ही ग्राह्य है, चरण का अर्थ यहां प्रसंग के अनुकूल नहीं है इस प्रकार जो अर्थ श्री वत्सलक्ष्म, और 'श्री वत्सांक का, है वही अर्थ 'श्री वत्सपद' का है अर्थात् 'श्रीवत्सपद' का 'श्रीवत्स चिन्ह' ही अर्थ है। चरण का यहां कोई प्रयोजन नहीं है।

अब एक बात विचारणीय अवश्य है जिसके कारण ही वास्तव में कतिपय सज्जनों को उपरोक्त क्लिष्ट अनुमान करने का अवसर मिल गया है और वह यह कि जहाँ तक आर्ष ग्रन्थों में देखा जाता है भगवान् के ध्यान वर्णन में उपरोक्त दोनों चिन्हों में से एक का ही वर्णन आता है, दोनों चिन्हों का स्पष्ट रूप से एक साथ वर्णन कहीं नहीं पाया जाता। पर जब कि सिद्धांत रूप से ही दोनों चिन्ह बिल्कुल पृथक् हैं, और यह बात आर्ष ग्रन्थों में बिल्कुल स्पष्ट है, जैसा कि विस्तार पूर्वक ऊपर स्पष्टीकरण किया जा चुका है, तब केवल दोनों के एक साथ वर्णन न आने के कारण ही दोनों का एक मान लेना उचित नहीं है। किन्तु दोनों के एक साथ वर्णन न होने के मार्मिक कारण की खोज करना ही मर्मी सज्जनों का कर्तव्य है। फिर यह भी नहीं कहा जा सकता, कि अवश्य ही कहीं पर दोनों का एक साथ वर्णन नहीं ही आया। संभव है कि आर्ष ग्रन्थों में कहीं पर दोनों का एक साथ वर्णन आया भी हो, पर वह ग्रन्थ या वह प्रसंग हमारे देखने में न आये हों. हां इतना अवश्य है कि प्रसिद्ध रूप से दोनों का एक साथ वर्णन नहीं मिलता, यह तो निश्चय ही है, और इसी कारण, इस सम्बन्ध में विचार करना कोई अनुचित भी न होगा।

भगवत्कृपा से इस सम्बन्ध में दास को जो कुछ प्रतीत हुआ है वह सेवा में उपस्थित किया जाता है, सज्जन लोग विचार कर देखलें।

ध्यान देने की बात यह है कि 'श्रीवत्स' और 'भृगुपद' दोनों चिन्हों में भाव का विपर्य्यय है

कहाँ 'श्रीवत्स' स्वयं श्री जी का स्वरूप ? और कहां उन्हीं 'श्री जी' के प्राणनाथ के कोमल उर

स्थल पर कठोर आघात करने वाला भृगुपद? दोनों में कितना अन्तर है? अतएव दोनों चिन्हों से परस्पर विरुद्ध भावों का उद्दीपन होते देख कर ही, महानुभावों ने दोनों का एक साथ वर्णन नहीं किया।

जिन प्रसंगों में भगवान् के संग 'श्री जी' के मोद विनोद का सम्बन्ध है, एवं जिन प्रसंगों में भगवान् के साथ श्री जी के कृपापात्र भाविकजनों के मोद विनोद अथवा विरह आदि का सम्बन्ध है, ऐसे प्रसंगों में भृगुपद चिन्ह का वर्णन न आना ही ठीक है, क्योंकि उस चिन्ह से प्रियतम प्रभु के कोमल हृदय पर भृगु चरण का कठोर आघात स्मरण होने पर किस भाविक का हृदय कंपायमान न हो जायगा? फिर स्वयं श्री जी का क्या कहना! इसके अतिरिक्त जहां पर देवताओं के सन्तोष के लिये, भगवान् का त्रिदेव गत विष्णु से ऐक्य सूचित करना है अथवा जहां पर भगवान् के ब्राह्मण्य देव होने का विरद सूचित करना है ऐसे अवसरों पर भृगुपद चिन्ह का वर्णन अवश्यमेव बहुत उपयुक्त होगा, जैसा कि गोस्वामी जी कृत गीतावली में उत्तर कांड के 'अवध नगर अति सुन्दर बर सरिता के तीर' इस पद के अन्तर्गत आये हुये, 'उर भृगु चरण विराजत द्विज प्रिय सरिबअनूप' से भी स्पष्ट है इसमें रेखांकित शब्दों से भृगुपद चिन्ह से 'ब्राह्मण्यदेव' होने की सूचना ही प्रधान है।

मानस रामायण में भी पूज्यपाद गोस्वामी जी ने इस बात का बहुत ध्यान रक्खा है। मनु शतरूपा के सामने आये हुये पर स्वरूप के अतिरिक्त, अवतार शरीर में श्रीवत्स का वर्णन तो कहीं नहीं आया, जहां आया है, वहाँ भृगुपद चिन्ह ही आया है। पर इतना होते हुये भी उनकी सावधानी देखिये कि, जनकपुर दर्शन, फुलवारी, धनुष यज्ञ, विवाह आदि प्रसंगों में कई बार प्रत्येक प्रसंग में प्रभु रूप तथा शृंगार का वर्णन करते हुये भी, 'भृगु पद चिन्ह' की चर्चा कहीं आने दी।

पुनः ऐसे प्रसंगों में, जहां रस विपर्यय का विशेष भय नहीं है, शांत रसके भक्तों के सन्तोष के लिये, भगवान् की अतिशय क्षमा शीलता, तथा ब्राह्मण्य देवत्व आदि विरद को सूचित करने के लिये स्पष्ट रूप से भृगुपद चिन्ह का वर्णन किया है। इस प्रकार दोनों चिन्हों से विरुद्ध भावों का उद्दीपन होने के कारण, दोनों का एक साथ वर्णन न आना भी उचित ही है।

सारांश यह कि 'श्रीवत्स' और 'भृगुपद' दोनों चिन्ह पृथक् हैं।

'श्रीवत्स', भगवान् के वक्षस्थल में दक्षिण ओर पीत रोमावली के रूप में, स्वयं श्री जी का स्वरूप है। दोनों चिन्हों को एक मानना भूल है।

---

## * कसक *

[ ले० श्री "उमेश" चतुर्वेदी ]

पल्लव भूषित कन्दरा मुकुलित,
दृश्यन मध्य महावन में।
रूप अलौकिक दिव्य छटा,
अभिराम विलोकत ही तनमें॥
बीजुरी दौर परी पर हाय!
रही न विलीन भई क्षण में॥
चातक मोर चकोर की भांति ही,
हाय रही मन की मन में॥

---

# महाराज जनक विदेह की संक्षिप्त जीवनी।

[ ले० श्री भक्तलल मथुराप्रसाद जी ]

जनक महाराज अपनी प्रजा की स्थिति का निरीक्षण नगर में भेष बदल कर विचरते हुये किया करते थे, एक दिन उन्होंने एक विशाल भवन के झरोके में एक पुरुष को उस की स्त्री के साथ हास्य विलास ( किलोलें ) करते देखा और दैव संयोग उसी समय एक वैश्य पत्नी को जल लाने के लिये कलश सिर पर रक्खे जाते देखा जोकि उस झरोके में किलोल करते हुये दम्पति को देख कर हंस पड़ी थी।

महाराज उस स्त्री के पीछे २ जलाशय तक पहुंचे और जब वह स्त्री कलशों को मांजने लगी आप ने उस से प्रश्न किया, माता उन स्त्री पुरुषों को झरोके में देख कर तुम क्यों हंसी थी, इस का कारण कृपा कर मुझे बताये। ( यद्यपि राजा जी भेष बदले हुये थे उस स्त्री ने अपनी दिव्य दृष्टि से उन्हें पहचान कर कहा )

स्त्री—राजाजी आप इस झंझट में न पड़िये आप राज काज कीजिये मेरे हंसने का कारण न पूछिये।

राजा—माता जी मुझे इस का रहस्य जाने बिना कल नहीं पड़ेगी, आप कृपा करके बतला ही दीजिये।

स्त्री—महाराज मैं तो आज ही मरने वाली हूं आज से छटे महीने आप के बगीचे में फवारे के पास के वृक्ष पर आप को एक मैना मिलेगी वह आप का समाधान कर देगी।

राजा—माताराम! क्या तुम को निश्चय है कि तुम आज मरोगी, यदि ऐसा है तो कोई उपाय क्यों नहीं करती, और क्या तुम्हें यह भी विदित है कि तुम्हारी मौत किस प्रकार होगी।

स्त्री—राजन् मेरे मकान का छज्जा टूट कर मुझ पर गिरेगा, उस के नीचे दब कर मेरा मरण लिखा है विधाता का लेख अटल है, होनहार को कोई मिटा नहीं सकता। इस पर एक दृष्टान्त सुनाती हूं।

## विधि का लेख अटल होने का दृष्टान्त

लंकापति रावण ऐसा प्रतापी था कि सब देवता उस की सेवा में रहते थे, ब्रह्मा जी वेद सुनाते, पवन देवता पंखा करने पर और वरुण जल लाने पर, कुबेर खजानची और सब देव भिन्न २ कार्य पर नियुक्त थे।

एक दिन दर्बार में ब्रह्मा जी के मुख से यह शब्द निकल गये कि विधाता लेख अटल है होनी बलवान् होती है बेमाता जो अक्षर ललाट पर लिख जाती है वह अवश्य होकर रहता है।

रावण यह वचन सुन कर बोल उठा कि मेरे आगे होनी क्या वस्तु है, विधाता कौन है कब लिखा करती है। तब ब्रह्मा जी ने कहा कि दैव की अधिष्ठातृ शक्ति बेमाता हैं, छटी के दिन रात के समय बेमाता बालक के ललाट में जो अक्षर लिख जाती हैं उन्हें कोई नहीं मिटा सकता।

तब रावण क्रोधाविष्ट हो के बोला, कि मैं बेमाता के लेख को मिटाने की प्रतिज्ञा करता हूं यदि नहीं मिटाऊं तो मेरा नाम रावण न कहना, और कुछ रख देना और यदि मैं उस का लेख मिटा दूं तो ब्रह्मा जी का एक मस्तक काट डालूंगा।

ब्रह्मा जी ने स्वीकार किया, उन दिनों दैवयोग से मन्दोदरी के सन्तान होने वाली थी, जब लड़की पैदा हुई तो छठी के दिन रावण प्रसूतिगृह के द्वार पर शस्त्र हाथमें लेकर बैठ गया, और प्रतीक्षा करने लगा कि बेमाता आवे तो उस का सिर काट लूँ। अर्धरात्री के समय बेमाता आई उसे रोक कर रावण बोला कहां जाती है क्या करेगी, उस ने उत्तर दिया बालक के ललाट पर अक्षर लिखूँगी।

रावण—क्या लिखेगी।

बेमाता—यह मैं नहीं जानती दैव शक्ति से जो कुछ भाग्य है वो अक्षर ही मेरी लेखनी से लिखे जायेंगे।

रावण—अच्छा इस शर्त पर जाने देता हूं कि जो कुछ लिख कर आवे मुझे बता देना।

बे माता अन्दर गई और अपना कार्य करके वापिस आई। रावण ने पूँछा क्या लिख कर आई है, बेमाता ने कहा इस कन्या का व्याह उस चांडाल (भंगी) के लड़के के साथ होगा जो तुम्हारे महल के आगे झाड़ू देता है यह शब्द सुनते ही रावण ने क्रोध करके तलवार से बेमाता का मस्तक काटना चाहा। परन्तु वो अलक्षित होगई। दैवी शक्ति थी कब हाथ आ सकती थी। रावण ने दर्बार में आकर मन्त्रियों से कहा कि उस चांडाल के लड़के को अभी बुलाकर मरवादो उनमें से एक मन्त्री ने कहा कि महाराज अभी इसके मरवा देने से ब्रह्मा जी को ऐसा कहने का अवसर मिल जाय गा कि यदि वो लड़का जीता रहता तो उसी के साथ कन्या व्याही जाती आपने वो समय तो आने ही न दिया। रावण ने मन्त्री की यह बात मानकर कहा कि तुम्हारा कथन सत्य है। इसलिये ऐसा करो कि इस लड़के के पांव का अंगूठा काटलो और ऐसी जगह भेज दो जहां कोई मनुष्य न रहता हो। वहां रहने से अपने आप कष्ट पाकर मर-जायगा। दैव ने मन्त्रियों और रावण की बुद्धि फेर दी।

मन्त्रियों ने उस चांडाल पुत्र का एक समुद्र के निर्जन टापू में ले जाकर छोड़ दिया। वहाँ न कोई मनुष्य न खाने पीने को कुछ मिला। महा विपत्ति में पड़कर रोने पीटने लगा अति घबराया तीन दिन बीत गये। पीछे इसे विचारते २ एक झरना दिखाई दिया इसका मीठा जल पिया, पास ही एक बगीचा मिला जिसमें फल लटक रहे थे। इसने उसी के समीप अपनी कुटिया बनाली उसमें रहने लगा और फल खाकर मिष्ट जल पीता रहा। भजन परमात्मा का खूब करने लगा। जिससे इसके पूर्व जन्म के पापों का नाश हो कर इसका शरीर भी अति पुष्ट और सुन्दर हो गया। १२ वर्ष तक इसने भजन में समय बिताया।

एक दिन इसने बन की लकड़ियों और लताओं से एक डूंगी बनाई। और उसे समुद्र में डाल कर आप उसमें बैठ गया। डूंगी बहती कई दिनों में किनारे जा लगी वहां इसे पृथ्वी दिखाई दी। झट ही डूंगी से उतर कर पृथ्वी पर पहुंच गया बड़ा प्रसन्न हुआ उस स्थल के समीप ही अयोध्या सूक नामक नगर था वहाँ का राजा मर गया था। और राजा के सन्तान न थी। मन्त्रियों ने यह विचार कर रक्खा था कि प्रातःकाल नगर का दर्वाजा खुलते ही जो मनुष्य सब से पहले प्रवेश करे उसीको राजसिंहासन पर विराजमान कर दिया जाय।

चांडाल पुत्र रात को समुद्र के किनारे उतर कर प्रातःकाल से पहले ही नगर की तरफ चल दिया और दर्वाजा खुलते ही सब से पहले और

दर्वाजा खुलते ही सब से पहले प्रविष्ट होगया। उसी को राज्याधिकारियों ने लेजाकर सिंहासन आरूढ कर दिया। नाम उस का दैवगति नरेश हुआ।

इधर रावण की कन्या पदार्था स्यानी हुई उस का स्वयम्बर रचा गया देश देशान्तर के नरेश बुलाये गये। उनमें ऋष्यमूक नरेश राजा दैवगति भी निमन्त्रित हुये। कन्या वर माला लेकर मण्डप में आई और दैवगति से दैवगति नरेश के गले में ही उसने वर माला डाली, उसी के साथ रावण ने उस कन्या की शादी बड़ी धूम धाम से कर डाली बस अब तो रावण सुर ब्रह्मा जी के पास खड्ग लेकर पहुंचे और कहने लगे, अरे मन्दमति बुड्ढे ले अब तो तेरा शीश काटने में कोई संशय का अवसर नहीं रहा देख मैंने विधाता के लेख को कैसा मिटा दिया, बोल अब क्या कहता है। ब्रह्माजी हंस के बोले, बाबा त्वरा क्या है मेरा शीश काट लेना पर मेरा कथन अब भी वोही है कि विधाता का लेख अमिट है जरा जा कर जांच तो सही किस के साथ तेरी कन्या व्याही गई है। रावणने अपने जामाता को बुला के धमका कर पूछा, तो उसके पैर का अंगूठा भी कटा पाया और उसने भी साफ कह दिया कि मैं वोही चांडाल पुत्र हूं।

रावण लज्जित होकर दर्बार में गया और ब्रह्मा जी से क्षमा मांग कर कहने लगा कि इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि होनी बलवान और विधाता का लेख अमिट है।

वैश्य पत्नी माथे पर कलश जल का रखकर चलदी। जनक जी भी उसके पीछे हो लिये, जब उसके मकान को दूरसे देखा तो बड़ी संगीन आलीशान इमारत पाई। परन्तु ज्यों वो स्त्री छज्जे के निकट पहुंची भूकम्प होकर मकान गिरा और वोह दब कर मर गई। राजा जनक चकित होगये और घर जाके उस मैना की प्रतिक्षा करने लगे। जिसका निर्देश वैश्यपत्नी ने किया था।

शेष फिर

---

# एक राजा और वैराग्यवान् की कथा।

[ ले० श्री पण्डित रामकुमार जी ]

एक नगर के समीप वन में एक महात्मा वैराग्यवान् रहते थे। एक दिन उस नगर के राजा उनके पास गये और महात्मा से विनम्र निवेदन किया कि महाराज! कुछ उपदेश से कृतार्थ करिये। महात्मा ने राजा से कहा कि हे राजन्! संसार के विषय भोगों में जो राग है वही इस लोक और परलोक में दुःख का हेतु है और इन से जो वैराग्य है वही दोनों लोकों में सुख का हेतु है। राग ही अज्ञान का चिह्न है सो पञ्चदशी में कहा भी है:-

रागो लिंगमबोधस्य चित्त व्यायाम भूमिषु।
कुतः शाद्वला तस्य वह्निः कोटरे तरोः॥

चित्त की विस्तृत भूमियों में अज्ञान का चिह्न पदार्थों में राग ही है। जिस वृक्ष के कोटरे में अग्नि लगी हुई है वह कैसे हरा भरा रह सकता है अर्थात् कदापि नहीं रह सकता। जिन पुरुषों का स्त्री पुत्रादिकों में राग है उन को नित्य सुख की प्राप्ति

कदापि नहीं हो सकती। राजा ने कहा महाराज! गृहस्थाश्रम में स्त्री पुत्रादिकों में कुछ न कुछ राग बना ही रहता है राग का अभाव किसी काल में में भी नहीं होता अतः गृहस्थाश्रमी का मोक्ष कदापि नहीं हो सकता। महात्मा ने उत्तर दिया कि ऐसा नियम नहीं है कि गृहस्थाश्रम में सदैव स्त्री पुत्रादिकों में राग ही बना रहे और किसी समय में भी उनसे वैराग्य न हो। गृहस्थाश्रम में कोई न कोई दुःख अवश्य बना रहता है इस कारण कुछ न कुछ वैराग्य भी बना रहता है। क्योंकि विषय भोगों में दुःख बुद्धि ही वैराग्य का हेतु है और विषय भोगों में सुख बुद्धि ही राग का कारण है। गृहस्थाश्रम में अत्यन्त ही मूढ़ व्यक्ति को भी यत्किंचित् वैराग्य बना रहता है परन्तु वह मन्द वैराग्य कहा जाता है। क्योंकि जब तक स्त्री पुत्रादिक दुःख से ग्रसित हैं तब तक ही उनका वैराग्य बना रहता है और जब पीड़ा निवृत्त हो जाती है उसी क्षण उनका वैराग्य भी विदा हो जाता है। वैराग्य का कारण गृहस्थाश्रम ही है क्योंकि वसिष्ठादिक बड़े २ महात्माओं को गृहस्थाश्रम में ही वैराग्य हुआ था और जितने बड़े २ संन्यासी हुये हैं उनको भी प्रथम गृहस्थाश्रम में ही वैराग्य हुआ था। तत्पश्चात उन्होंने गृहस्थाश्रम को त्याग दिया। बिना गृहस्थाश्रम के तो किसी की उत्पत्ति भी नहीं होती। समस्त शेष आश्रमों का आधार भी यही है। अतः गृहस्थाश्रम ही सब का मूल कारण है। और ऐसा भी नियम नहीं है कि गृहस्थाश्रम में आत्म ज्ञान न हो क्योंकि जनकादि गृहस्थाश्रम में ही ज्ञानी हुये हैं। ज्ञान का मुख्य कारण वैराग्य है। जो गृहस्थी सदैव वैराग्यवान् और विचारशील रहता है वह निःसंदेह ज्ञानी है। जो संन्यासाश्रम में भी पदार्थों में आसक्त है उसके अज्ञानी होने में भी कोई सन्देह नहीं है। वैराग्य ही ईश्वरोपासना और आत्म ज्ञान का प्रधान कारण है। मनुष्य चाहे गृहस्थाश्रमी हो अथवा संन्यासाश्रम में हो वा ब्रह्मचर्याश्रम में हो। वेद का सिद्धान्त है कि वैराग्य बिना भक्ति और आत्मज्ञान नहीं हो सकता और ज्ञान बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अतः मनुष्य को सांसारिक पदार्थों में राग नहीं करना चाहिये। यदि मनुष्य का अनित्य पदार्थों में राग बना रहा तो मृत्यु काल में उसको वही वस्तु याद आयेगी जिस वस्तु का उसके चित्त पर दृढ़ संस्कार है। और वह उसी को प्राप्त होगा। आत्मपुराण के सातवें अध्याय में कहा है कि:-

वासना यत्र यस्य स्यात्सतं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासनातो वपुर्नृणाम्॥

अर्थात जिसमें जिसकी वासना रहती है वह उसको स्वप्न में भी दृष्टिगोचर होता है स्वप्नवत मरण समय में भी जान लो। मृत्यु समय में जिस की वासना जिस में रहती है वह उसी को वा उसी रूप को प्राप्त होता है। क्योंकि वासनामय ही उसका वपु है। गीता में भी कहा है:-

यं यं वापिस्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैतिकौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥

जिसके चित्त पर जिस वस्तु का दृढ़ संस्कार होता है उसको मरण समय उसी वस्तु की याद आती है। और वह उसी वस्तु से जा मिलता है।

महात्मा कहते हैं कि हे राजन्! उपासक उपास्य रूप हो जाता है ऐसा वेद का नियम है अतः भगवान् अर्जुन के प्रति कहते हैं कि जो अन्त समय में मुझे ही याद करता हुआ मेरा ही ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ता है वह मुझे पाता है।

परन्तु जो मनुष्य मुझे छोड़ कर किसी और देवता के ध्यान का अभ्यास करता है वह अपने सदा के अभ्यास के कारण अन्त समय में उसी देवता को याद करता है। और उसी देवता को पाता है। जो अन्त समय में शिव का स्मरण करता है वह शिव को प्राप्त होता है। जो अन्त समय स्त्री पुत्रादिकों को याद करता है उसे स्त्री पुत्र ही मिलते हैं। जो दिन रात माया में फंसे रहते हैं और अन्त समय में धन दौलत की चिन्ता करते मरते हैं वे उन्हीं पदार्थों को पाते हैं। परन्तु नाशमान पदार्थों के पाने से कुछ लाभ नहीं। बार बार जन्म लेने और मरने में बड़ा कष्ट है अतः मनुष्य को सदैव परब्रह्म का ध्यान करना चाहिये अभ्यास करते रहने से मनुष्य के मन में परब्रह्म ही बसा रहेगा। इसलिये मृत्यु समय वह उसी सच्चिदानन्द का ध्यान करता हुआ देह त्याग करेगा और उसी के स्वरूप में मिल कर जन्म मरण के बन्धन से छूट जायेगा। अन्तकाल में, सदा के अभ्यास के कारण, मनुष्य की जैसी भावना होती है उसे वैसी ही देह मिलती है। इसलिये हे अर्जुन! तू मुझ में मन लगा, मेरी भक्ति कर, मुझे ही नमस्कार कर मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि ऐसा करने से तुम मुझ में ही मिलोगे और तुम ही केवल नहीं वरन् भूत काल में जिन का भय और क्रोध नष्ट हो गया था जिनका नेह केवल मुझ में था और जिन्हें केवल मेरा ही आसरा था। ऐसे अनेक मनुष्य ज्ञान रूप तप से पवित्र हो कर मुझ में मिल गये और भविष्य में मिलते रहेंगे। महात्मा राजा से कहते हैं कि हे राजन! जो पुरुष गृहस्थाश्रम में अनासक्त हो कर उसमें कमलवत् रहता है उसके मोक्ष में कोई भी सन्देह नहीं है। इसमें राजा जनक जी का दृष्टान्त सुनाता हूं।

एक समय श्री शुकदेव जी उपदेशार्थ जनक जी के पास गये और द्वारपाल द्वारा अपने आने की सूचना दी। राजा ने उनकी परीक्षार्थ कहला भेजा कि अभी द्वार पर ठहरें। ऐसा कहने का तात्पर्य यह था कि राजा यह जानना चाहते थे कि इनको क्रोध होता है कि नहीं। तीन दिन शुकदेव जी द्वार पर खड़े रहे और कुछ भी क्रोध न आया। चौथे दिन श्री शुकदेव जी को अन्दर बुलाया गया। अन्दर जाकर क्या देखते हैं कि जनक जी स्वर्ण के सिंहासन पर स्थित हैं और रूप यौवन सम्पन्न स्त्रियां चरण दबा रही हैं और मधुर स्वर से गायन कर रही हैं यह देख कर शुकदेव जी के मन में घृणा उत्पन्न हुई। यह तो भोगों में अत्यन्त आसक्त हैं यह कैसे ज्ञानी हो सकते हैं आत्मपुराण में लिखा है:-

स्मरणात्संभवते कामो बलनां धैर्यनाशनः।
दर्शनाद्भाषणात्स्पर्शात्कस्मादेष न संभवेत्॥

स्त्री का स्मरण करने से ही धीरता का नाश करने वाला कामदेव उत्पन्न हो जाता है। फिर दर्शन से, भाषण से, स्पर्श करने से क्यों नहीं उत्पन्न होगा अर्थात् अवश्य होगा। शास्त्रों में स्त्री के संसर्ग का निषेध किया है क्योंकि स्त्री के संसर्ग से पुरुष की धीरता नष्ट हो जाती है जैसे अग्नि सम्बन्ध से घृत पिघल जाता है। कामी पुरुषों और स्त्री के संग से पुरुष भी कामी हो जाता है। जन्मान्तर और देहान्तर में भी क्रोधी लोभी मोही होता है। काम क्रोधादिकों के सम्बन्ध से मन भी अशुद्ध हो जाता है। अशुद्ध मन में उपदेश किया हुआ ब्रह्म ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। अतः ब्रह्मज्ञानी के लिये स्त्री का संग कल्याण करने वाला नहीं। जनक जी शुकदेव जी के अन्तःकरण की बातों को जान गये और एक ऐसी माया रची कि

मिथिला पुरी में आग लग गई और बाहर से दूत दौड़े आये और राजा को सूचना दी कि मिथिला में आग लग गई है। अब द्वार पर भी आगई है। थोड़ी देर में अन्दर भी आना चाहती है। तब शुकदेव जी के मन में फुरा कि बाहर द्वार पर तो हमारा भी दण्ड कमण्डलू पड़ा है कहीं जल न जाये जनक जी जान गये और उस काल में जनक जी ने यह श्लोक पढ़ा।

अनन्तवत्तु मे वित्तं यन्मे नास्ति हि किंचन ॥
मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन ॥

जनक जी कहते हैं कि मेरा आत्म रूपी वित्त अनन्त है इस मिथिलापुरी के दग्ध होने से मेरा तो किञ्चित् भी दग्ध नहीं होता। इस वाक्य से जनक जी ने पदार्थों में अपनी अनासक्ति दिखलाई। तब शुकदेव जी को पूर्ण विश्वास हो गया कि राजा जनक ब्रह्मज्ञानी है। इसके उपरान्त जनक जी ने शुकदेव जी को उपदेश किया। महात्मा राजा से कहते हैं, यदि तुम भी जनक की भान्ति आसक्ति को त्याग कर राज्य करोगे तो तुम भी मुक्त हो जाओगे।

---

# योग-साधन

[ ले० श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती ]

८७४. भाफ, बिजली और छापाखाने से संसार में बसने वाली भिन्न २ जातियें एक दूसरी के अधिक सम्पर्क में आगई हैं और मनुष्यों का मानसिक विकाश भी बहुत हुआ है, परन्तु वेदान्त साहित्य के स्वाध्याय और आत्मा की एकता के अनुभव से सब प्रकार के भेद भावों का मिटना सम्भव है। यही साधन है जिन के द्वारा प्रेम, चित्त का विकाश और मनुष्य मात्र में सार्वभौम ज्ञान के विकाश की आशा हो सकती है।

८७५. परमात्मा का अवतार कानून कुदरत के अनुसार है। मनुष्यों की उन्नति के लिए ईश्वर का अवतरण होता है। हिरण्यगर्भ या ईश्वर के तेज का पृथ्वी पर आना ही अवतार है। जब संसार पर कोई विपत्ति आती है, या सत्य का लोप हो कर असत्य का प्राबल्य होता है, तो धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

८७६. मनुष्य में अनन्त और अद्भुत् शक्तियों का भण्डार छिपा हुआ है जिसका इसको ज्ञान नहीं है। इसके भीतर शक्ति और ज्ञान का अनन्त कोष है, पवित्रता, ध्यान और योग साधन द्वारा इन गुप्त शक्तियों का विकाश करना इस जीव का कर्तव्य है।

८७७. रामानुजाचार्य, विशिष्टाद्वैत मत के प्रचारक कहते हैं कि जीवात्मा दिव्य शक्ति का पतंगा है। शंकराचार्य जी कहते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म का अंशमात्र है। वह स्वयं ब्रह्म है। द्वैत मत के संस्थापक माधवाचार्य जी कहते हैं कि जीवात्मा परमात्मा का सेवक है। द्वैत और विशिष्टाद्वैत मत अद्वैत की तरफ ही लेजाते हैं। यह आध्यात्मिक जीने की सीढ़ियां हैं, सब से ऊंचा स्थान अद्वैत है।

८७८. सन्त महात्माओं के जीवन की प्रत्येक

घटना और कहानी, मनुष्य मात्र की शिक्षा के लिए अत्युत्तम खुशबू के सदृश होती है। जिसने अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है उस पवित्रात्मा की वाणी से जो शब्द निकलता है वह मनुष्यों की आत्मा को उन्नत करने वाला होता है। प्रत्येक शब्द में अत्यन्त गूढ़ दर्शन शास्त्र छिपा हुआ होता है। प्रत्येक वाक्य दूरदर्शिता और तत्त्वज्ञान से गर्भित होता है। कुछ व्यक्ति ही इन अमूल्य शब्दों को और उनके गूढ़ अर्थों को समझने में समर्थ हो सकते हैं।

८७६. प्रेम पूर्वक बुद्धिमानी से प्रश्न करना चाहिए और बहुत शान्ति व नम्रता पूर्वक उत्तर सुनना चाहिए। अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए सन्त महात्माओं से व्यर्थ का वाद विवाद नहीं करना चाहिए।

८८०. तत्त्वदर्शी महात्माओं के लिखे हुए पवित्र ग्रन्थों में सत्य का ही अन्वेषण करना चाहिए भाषा पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

८८१. ईश्वर अनादि है। वह इस जगत् का आदि कारण है। वह मनुष्यों के अज्ञान और संसार की अविद्या का नाश करने वाला है। वह सर्वव्यापक है। यह संसार चक्र उसी में घूम रहा है। उसी की शरण में जाओ। भाव और सचाई से कहो ओ हरि! "मैं तेरे चरण कमलों की शरण ग्रहण करता हूँ" ओमन्नारायण शरणं प्रपद्ये। ऐसा करने से तुम्हारे ऊपर हरि की दया होगी।

८८२. समस्त पदार्थों का त्याग करके भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करो, एकान्त वास करो, ओ३म् नमो नारायण, मन्त्र का १४ किरोड़ बार जप करो। यह अनुष्ठान ४ वर्ष में पूरा हो सकता है। एक लाख जप नित्य करो, तुमको हरि चतुर्भुज रूप से दर्शन देंगे। क्या अनन्त आनन्द शान्ति और अमर पदवी प्राप्त करने के लिए तुम थोड़ा सा कष्ट नहीं उठा सकते।

८८३. परमात्मा का साक्षात्कार करके ही इस संसार चक्र से निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। यह काम चाहे तुम इस जन्म में करो चाहे हज़ार जन्मों में इसके किए बिना इस चक्र से छुटकारा होना असम्भव है, फिर शीघ्रता क्यों नहीं करनी चाहिये इसी जन्म में क्यों न किया जावे बल्कि इसी क्षण क्यों न करना चाहिए? जब तुम निश्चय तौर पर यह जानते हो कि केवल ईश्वर साक्षात्कार से ही सब प्रकार के कष्टों की निवृत्ति हो सकती है, तो काल को बढ़ाते क्यों हो? पूर्ण पुरुषार्थ करो और इसी जन्म में साक्षात्कार करो।

८८४. अहंकारी और लालची मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। एक ग़रीब और नम्र मनुष्य का चित्त शान्त रहता है।

८८५. केवल रोटी से मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता परन्तु परमात्मा का नाम राम, राम, श्याम, श्याम, हरि ओ३म्, हरि ओ३म् जपने से उसका निर्वाह हो सकता है। नाम की महिमा अपार है॥

८८६. जब सुग्रीव और उसके साथियों ने समुद्र पर पुल बनाया तो राम नाम की महिमा से पत्थर पानी पर तैरने लगे। जब प्रह्लाद को जलती अग्नि में डाल दिया गया तो नाम के प्रभाव से अग्नि शान्त होगई और उसकी रक्षा हुई॥

८८७. जब तुम दान देते हो तो तुम्हारे बाएं हाथ को दाएं हाथ से दिए हुए का पता नहीं होना चाहिए। (सन्त मेथ्यू)

८८८. जब तक मनुष्य स्वप्न देखता रहता है स्वप्न सत्य प्रतीत होता है, परन्तु जब जाग

उठता है स्वप्न झूठा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार जब तक मनुष्य अविद्या में फंसा हुआ है यह संसार सत्य प्रतीत होता है और जब इसको अपनी आत्मा का ज्ञान हो जाता है यह जगत् मिथ्या भासने लगता है।

८८९. सखा भाव में सम्मान और इज्जत बराबरी के भाव से किया जाता है। अर्जुन भगवान् कृष्ण के साथ इसी भाव से बर्ताव किया करता था। वह भगवान कृष्ण के साथ खेलता था, भगवान् के गले में बाहें डाल कर मिलता था, उनके साथ खेलता था, आनन्द मनाता था।

८९०. वासना तीन प्रकार की है, देह वासना, शास्त्र वासना और लोक वासना। शरीर का विचार "मैं बलवान, निरोग और स्वस्थ व सुन्दर बनजाऊं ऐसे विचारों का नाम शरीर वासना है, मैं विद्वान् बन जाऊं, ऐसी इच्छा शास्त्र वासना है। "नाम और ख्याति प्राप्त करने की इच्छा का नाम लोक वासना है। ज्ञान प्राप्ति में यह वासनाएं बाधा डालती हैं। विचार द्वारा इनको समूल नष्ट करना चाहिए।

८९१. अध्यात्मविद्या का अधिकारी केवल वह पुरुष है जिसने वेदों का अध्ययन कर लिया है, जो बुद्धिमान् चतुर और जितेन्द्री है, जो शान्त स्वभाव और ब्रह्मचारी है और गुरु की श्रद्धा भक्ति से सेवा करता है। गुरु को चाहिए कि शिष्य की पहले ही परीक्षा करले।

८९२. जिन जिज्ञासुओं को मोक्ष की अभिलाषा है उनको साधन चतुष्टय सम्पन्न हो कर श्रद्धा और विश्वास युक्त होकर हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सेवा में उपस्थित होना चाहिए। उनको वेदों का पारगामी और स्वाध्यायप्रिय होना चाहिए। उनका हृदय सरल होना चाहिए और सब प्राणियों के हितैषी और दयालु स्वभाव के होने चाहिए। सब उपनिषदों के ज्ञाता होने चाहिए और ज्ञान व ध्यान परायण होने चाहिएं।

८९३. साहस पूर्वक यह कहना चाहिए "मैं परमात्मा हूं" "मैं ब्रह्म हूं" इस विचार पर आरूढ़ होना चाहिए। यह हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। मेरे प्यारे पुत्रो भय मत करो, खड़े हो जाओ, साक्षात्कार करो, सत्य का ढ़ंढोरा पीटो और दूसरों को सहायता करो कि वह भी सत्य को जान सकें।

८९४. जीवन और मृत्यु जागने और सोने के तुल्य है।

८९५. जिस तरह तुम एक मकान को खाली करके दूसरे में प्रवेश कर जाते हो उसी तरह इस जड़ शरीर को छोड़ कर दूसरे नवीन शरीर में प्रविष्ट हो जाते हो। फिर किस बात का रोना और किस बात का डर?

८९६. नाशवान् पदार्थों के विद्यमान होते हुए केवल आत्मा अविनाशी है। श्रुति का ढंढोरा है कि "निश्चय करके यह आत्मा अविनाशी है। यह दृश्य जगत्, शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों का आश्रय है। इस आत्मा का साक्षत् स्वतन्त्र हो जाना चाहिए।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति

८९७. यह आत्मा अचल है और मन से भी अधिक वेगवान् है। देवता इसको पकड़ नहीं सके क्योंकि यह उनसे आगे दौड़ने वाला है। यह बैठा हुआ भी उनसे अधिक वेग से दौड़ता है जो इसके पीछे दौड़ते हैं। इसके द्वारा व्यापक सूत्रात्मा सब जीवों को गति का आश्रय स्थान है।

८९८ इस स्थान पर देव शब्द इन्द्रिय बोधक

समझना चाहिए। देवता ही इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करते हैं। सूर्य देवता आखों को ज्योति प्रदान करता है।

८९९. संसारी पुरुष भिन्न २ प्रकार की वासनाओं में व्यस्त हो कर इन्द्रिय भोगों में पड़ कर आत्मा को नष्ट कर डालते हैं। इसी कारण वह संसार चक्र में गोते लगाते हैं। जिनको विचार और विवेक है वह अपनी आत्मा का साक्षात् कर मोक्ष को पाते हैं।

९००. जो धैर्यवान और सुख व दुःख में सम भाव वाला है वही अमरत्व को प्राप्त करने योग्य है। गीता का वचन है 'सम दुःख सुखं धीरम् सोऽमृतत्वाय कल्पते।

वेदान्त दर्शन ६ प्रमाण मानता है।

१. प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय गोचर २ अनुमान, अन्दाज़ा, तर्क ३ उपमान, समान ४ शब्द, शास्त्रोक्त ५ अर्थापत्ति सम्भावना ६ अनुपलब्धि, अभाव उपनिषदों का कथन शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आता है। भगवान् का प्रेमी भक्त सब प्रकार के विधी निषेध का त्याग कर देता है। वह प्रेम की शराब पीकर मस्त रहता है। वह दैवी प्रेम के अमृत को पान करता है। उसकी आखों से आंसुओं की धारा चलती रहती है। वह सदैव परमात्मा के सुन्दर और प्यारे मुखड़े को निहारता रहता है। जिसके दिल में श्याम सुन्दर की मूर्ति समाई हुई है उसको माला के मणके, फूल, घण्टे, अर्घ, नैवेद्य आदि पूजा के विधी विधानों से क्या प्रयोजन है?

९०१. संसारी पुरुष के चित्त को काम वासना से रोकना बड़ा कठिन काम है, यद्यपि उसको कितनी ही प्रकार की चोटें लगें वह सांसारिक जीवन का त्याग नहीं कर सकता। घूमने फिरने वाले बाजारी कुत्ते को चाहे लकड़ी और पत्थरों से कितनी ही बार पीटा जावे वह अपनी द्वार द्वार घूमने की आदत को नहीं छोड़ सकता।

९०२. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पांच कोषों से आत्मा आच्छादित है और यही आत्मा के दर्शन करने में बाधा डालते हैं। जब तुम आध्यात्मिक साधन करोगे और अपनी सात्विक बुद्धि का विकाश करोगे यह कोष धीरे २ पृथक् हो जायेंगे और परदे आप से आप दूर हो जायेंगे। तुम्हारी चेतना शक्ति नीचे के स्थानों से ऊपर के स्थानों में चली जावेगी। तुम आत्मा की स्वतन्त्रता और आनन्द को अधिक अनुभव करने लगोगे और तुम्हारा जीवन देवताओं का सा हो जावेगा। तुम्हारा वास ओ३म् या ब्रह्म में हो जावेगा।

९०३. मनुष्य उन्नति करने वाला प्राणी है जब इसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है तो इसको अधिक सूक्ष्म भोजन की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में विरक्त और अल्लुओं से उसकी शान्ति नहीं हो सकती वरंन उसे उत्तम पदार्थों की आवश्यकता होती है। उसको आत्म निष्ठा में बड़े उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है।

९०४. वह ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा से वेदान्त शास्त्र को सुनते हैं और उसके साथ मिलकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

९०५. ज्ञानी प्रारब्ध के नाश हो जाने पर और तीनों शरीरों से पृथक् हो जाने पर उपाधि रहित हो कर विदेह अवस्था को प्राप्त करलेता है। जिस प्रकार घड़े के टूट जाने से उसका आकाश समष्टि आकाश में विलीन हो जाता है वैसे ही वह ब्रह्मरूप हो जाता है। यह अन्तिम मोक्ष है।

# नक्षत्राणामहं शशी गी० १०-२१

( ले० श्री मल्लीनाथ शर्मा )

प्रतिदिन साधारण वस्तुओं पर हमारी और आपकी दृष्टि बराबर पड़ती रहती है। परन्तु उनमें कोई भी विशेषता नहीं दीख पड़ती। जब हम किसी भी विषय को सामने रख कर तल्लीन हो कर उसको पूरे ध्यान से देखते हैं तो, जहां हमको साधारण बातों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता है वहां सृष्टि के करोड़ों गूढ रहस्य दिखाई देने लगते हैं।

मैं गीता का पाठ प्रायः किया करता हूं। एक दिन गीता माहात्म्य का पाठ करते २ निम्न-लिखित श्लोक पर दृष्टि पड़ गई, "कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित् कुन्तीसुतः फलम्। व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः" अर्थात् गीता को सर्व प्रकार से तो केवल कृष्ण ही जानते हैं, और अर्जुन तथा व्यास, व्यास का पुत्र ( शुक-देव ) याज्ञवल्क्य और मैथिल ( जनक ) आदि तो गीता के किंचित् फल मात्र को ही जानते हैं। इस श्लोक को पढ़ते हुए मन में विचार उत्पन्न हुआ कि गीता में ऐसा क्या गूढ रहस्य भरा हुआ है कि जिसको सम्यक् प्रकार से तो केवल कृष्ण ही जानते हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी लिखा है कि:-

"अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥"

वेदव्यासजी कहते हैं कि महाभारत में आठ सहस्र आठसो श्लोक तो ऐसे कूट और गूढ हैं कि जिन को क्या तो मैं जानता हूं या शुकदेव जानता है, संजय जानता है वा नहीं यह कह नहीं सकता।

इस श्लोक पढ़ने से तो और भी आश्चर्य की धरती खुद गई और तभी से गीता को ध्यान लगा कर पढ़ने लगा। पाठ करते २ एक दिन निम्न लिखित श्लोक पर आया, जैसे कि-

"आदित्यानामहं विष्णु र्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि "नक्षत्राणामहंशशी" गी०१०-२१"

इस का अर्थ करने लगा तो "नक्षत्राणामहं शशी" पर आकर अर्थ अड़ गया। साधारण दृष्टि से "नक्षत्राणामहं शशी" में कोई भी विशेषता नहीं दिखाई देती। लेकिन विचार बुद्धि से देखने पर यहां स्वयमेव शंका पैदा होती है कि भगवान् ने "नक्षत्राणामहं शशी" अर्थात् नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूं, यह कैसे कहा? चन्द्रमा की गणना नक्षत्रों में हो नहीं सकती। क्योंकि नक्षत्र शब्द का अर्थ है "स्थिर" रहना।

नक्षत्र शब्द से आकाश के वेही पिंड लिये जाते हैं जो कि हजारों वर्षों में भी अपने स्थान से नहीं हटते। लेकिन चन्द्रमा तो एक प्रकार का ऐसा चल पिंड है कि लगभग एक मास में पृथ्वी की परिक्रमा कर आता है। नक्षत्र स्थिर पिंड हैं इसलिये स्थिर पिण्डों में चल पिंड किसी प्रकार भी गिना नहीं जा सकता। नक्षत्र स्थिर जाति के पिंड हैं और ग्रह चल जाति के पिंड हैं, इसलिये स्थिर पिण्डों का असजातीय होने से चन्द्रमा को नक्षत्रों में किसी प्रकार भी गिन नहीं सकते। तो

"नक्षत्राणामहं शशी" का क्या अर्थ करें। यहां पर कितने ही गीता के पारंगत महोदयों से पूछा गया तो यही उत्तर मिला कि चन्द्रमा नक्षत्रों का अधिपति माना जाता है इसलिये "नक्षत्राणा महं शशी" कह दिया। लेकिन यह उत्तर ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान् को यदि ऐसा ही अभिप्रेत होता, तो "नक्षत्राणामहं शशी" के स्थान पर "आधिपानामहं शशी" इत्यादि कुछ कह देते, लेकिन ऐसा नहीं कहा है, इसलिये भगवान् का यहां पर कोई विशेष ही अभिप्राय हो सकता है। दूसरे यह भी बात है कि अधिपति किसी समूह के राजा को कहते है और राजा आदि अधिपतियों की गणना प्रजा आदि में नहीं हो सकती। क्या राजा की गणना प्रजा में हो सकती है! क्या पिता की गणना पुत्रों में हो सकती है, क्या पति की गणना स्त्रियों में हो सकती है। कभी नहीं हो सकती, अतः इस उत्तर से तो मन का समाधान नहीं हुआ।

इसके बाद शांकरभाष्य से आदि लेकर गीता के प्रसिद्ध २ आठों भाष्य भी देख डाले, परन्तु किसी में भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। कोई २ टीकाकार तो "भूतानामस्मि-चेतना" इतिवत्-कह कर निरुत्तर हो गये। अर्थात् जैसे प्राणियों में चेतना ( चैतन्य ) शक्ति मैं हूं, यहाँ पर प्राणियों में चैतन्य शक्ति, भगवान् अपने को बताते हैं इसी प्रकार "नक्षत्राणामहं शशी" कह दिया। परन्तु टीकाकारों का यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि "भूतानामस्मि चेतना" यहां पर "चैतन्य" शक्ति की प्राणियों में गणना नहीं की गई है, यहां तो भगवान् का इतना ही अभिप्राय है कि प्राणियों के अन्दर जो "चैतन्य" शक्ति है वह मैं हूं। इसलिये यह दृष्टान्त "नक्षत्राणामहं शशी" में लागू नहीं हो सकता। अथवा चैतन्य शक्ति को तो प्राणियों में "प्राणित्व" भी हो सकता है लेकिन नक्षत्रों में जो नक्षत्रत्व ( स्थिरत्व ) है, वह चन्द्रमा में कभी नहीं हो सकता। चन्द्रमा का चलन प्रत्यक्ष दिखाई देने के कारण, इसको नक्षत्रत्व ( स्थिरत्व ) किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, इसलिये "नक्षत्राणा महं शशी" की शंका ज्यों की त्यों बनी ही रह जाती है। इसकी खोज के लिये भाष्यों के पन्ने उलट डाले और लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य भी देख डाला, लेकिन "नक्षत्राणामहं शशी" का समाधान किसी भी प्रकार हो नहीं सका। इस प्रकार जब यह गुत्थी किसी प्रकार भी सुलझती नहीं दिखाई दी, तब हार कर अन्त में, हमारे स्वतः प्रमाण, या अन्तिम प्रमाण वेद भगवान् की शरण ली गई। एक दिन यजुर्वेद का स्वाध्याय करते २ निम्नलिखित मन्त्र आ गया।

"द्वेसृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥"
( यजु० १९-४७ )

उक्त मन्त्र में जो दो मार्गों का निर्देश किया गया है, इनको ठीक २ समझने के लिये 'छान्दोग्योपनिषत्' की निम्नलिखित श्रुतियों को देखा, जैसे कि 'तप इत्यं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽह, रह आपूर्यमाण पक्ष, आपूर्यमाण पक्षाद्यान् षडुदङ्केति मासांस्तान्। मासेभ्यः संवत्सरः, संवत्सरादादित्य, मादित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषो-ऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः" ( छा० ५-१०-१,२ ) इस मन्त्र में जो "आदित्याच्चन्द्रमसं" लिखा है, यह इसलिये लिखा गया है कि ब्रह्मलोक में जाने वाले ज्ञानी के लिये, देव मार्ग में पृथ्वी के बाद में पहले सूर्य

लोक आता है और सूर्य लोक के आगे चन्द्र लोक आता है, इससे सिद्ध होता है कि सूर्यलोक से चन्द्र लोक आगे है। अर्थात् सूर्य से चन्द्रमा ऊंचा सिद्ध होता है। "श्रीमद्भागवत्" के भी पंचम स्कंध की २२ वीं अध्याय में लिखा है कि सूर्य से चन्द्रमा आकार में दूना है और पृथ्वी से सूर्य जितना ऊंचा है उससे त्रिगुण ऊंचा है। लेकिन छान्दोग्योपनिषत् के निम्नलिखित मन्त्रों को देखने से चन्द्रमा के बारे में एक दूसरे ही प्रकार की बात पाई जाती है" जैसे कि "अथ य इमे ग्राम इष्टा पूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूमनभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रि, रात्रे रपरपक्ष, मपर पक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान् नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृ लोकं, पितृ लोकादाकाशं, आकाशा च्चन्द्रमस, मेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति । तस्मिन् यावत्संपात मुषित्वाऽथैन मेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते। यथेतमाकाशं, आकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति (छां० ५-१०-३)। अर्थात् दक्षिणायन मार्ग से जाने वाला योगी पृथ्वी से पितृ लोक में जाता है और आगे आकाश ( भूवायु और चन्द्रमा के बीच का आकाश ) लोक में जाता है और आकाश से चन्द्र लोक में जाता है। यहां चन्द्र लोक पृथ्वी के बाद में ही लिख रखा है, क्योंकि वायुलोक और आकाश लोक कोई पिंड विशेष न होने के कारण चन्द्रमा का स्थान पृथ्वी के बाद में पहला ही सिद्ध होता है। तथा ज्योतिष के सूर्य सिद्धान्त और सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रंथों में भी चन्द्रमा का स्थान पृथ्वी के बाद में पहला ही माना गया है।

"भूमेः पिंडः शशांकश्च कवि रवि कक्षे ज्यार्कि नक्षत्र कक्षा"।

अर्थात् भूमि के पिंड के चारों ओर निम्नलिखित पिंडों की कक्षा है, जैसे भूमि से प्रथम कक्षा चन्द्रमा की है, इस के बाद में बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु, शनि और नक्षत्रों की कक्षा है। इस हिसाब से भी चन्द्रमा की कक्षा पृथ्वी के पास सब से पहली है। और आधुनिक समय में तो यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है और सब से नजदीक है। लेकिन यहां देवमार्ग प्रतिपादक और पितृमार्ग प्रतिपादक श्रुतियों में बड़ा भारी विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि देवमार्ग प्रतिपादक श्रुति में चन्द्रमा का स्थान पृथ्वी के पास में ही लिखा है इसलिये एक स्थान पर सूर्य से भी आगे चन्द्रमा को लिखना और दूसरी जगह पृथ्वी के भी पास में लिख देना किसी प्रकार भी युक्ति संगत नहीं हो सकता। एक यह भी बात है कि-"न तत्र दक्षिणा यान्ति, इति श्रुतिः" अर्थात् श्रुति कहती है कि जिस मार्ग से उत्तरायण से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानी ब्रह्मलोक में जाते हैं उस मार्ग से दक्षिणायन से संबन्ध रखने वाले योगी नहीं जा सकते। तथा चन्द्रमा का नाम दोनों ही मार्गों में पाया जाता है इसलिये यह कैसे हो सकता है कि देवमार्ग वाले आदित्य से चन्द्र लोक में जाते हैं, तथा पितृ मार्ग वाले भूमि से चन्द्र लोक में जाते भी हैं ? और "न तत्र दक्षिणा यान्ति" वहां दक्षिण मार्ग वाले जा भी नहीं सकते। अर्थात् चन्द्रमा का नाम दोनों ही मार्गों में देखा जाता है। अतः इस गुत्थी को सुलझाने के लिये यह सिद्धान्त निकलता है कि देव मार्ग की श्रुति में कहे हुए चन्द्रमा से पितृ मार्ग की श्रुति में कहा हुआ चन्द्रमा भिन्न है। इस प्रकार हुए बिना इन श्रुतियों का अर्थ किसी प्रकार भी लग नहीं सकता। क्योंकि एक स्थान पर तो कह देना कि

देव मार्ग से पितृ मार्ग वाले जा नहीं सकते और फिर कह देना कि पितृ मार्ग से चन्द्र लोक में जाते हैं यह असंगत बात है। इसलिये देवमार्ग के चन्द्रमा से पितृमार्ग का चन्द्रमा अवश्यमेव भिन्न है। इस बात की जब ज्योतिष के ग्रन्थों में खोज की गई तो "ज्योतिर्गणित" नामक पुस्तक के नक्षत्राध्याय में "सोम" नामक एक नक्षत्र की तारा पाई गई। तथा "एशियाटिक सोसाईटी" के खगोल चित्र में भी देखा गया तो वहां भी "सोमतारा" नामक एक नक्षत्र पिंड मिला जो कि वृष राशि के अन्त में ब्रह्म राशि के पश्चिम में उपस्थित है। अन्य भी ज्योतिष की पुस्तकों में देखा गया तो सोम नामक तारों का बहुत अच्छा वर्णन मिला। ये इस प्रकार के विकारी नक्षत्र होते हैं कि इनका तेज चन्द्रमा की तरह घटता बढ़ता रहता है। चन्द्रमा की तरह घटने बढ़ने के कारण ही इनको सोम नक्षत्र कहा जाता है अर्थात् ग्रहों में जैसे सोम, यह पृथ्वी का चन्द्रमा है, इसी प्रकार नक्षत्रों में भी ये विकारी तारे सोम ( चन्द्रमा ) कहलाते हैं। अतः ग्रहों का सोम ( चन्द्रमा ) ग्रह वा उपग्रह कहलाता है और नक्षत्रों का चन्द्रमा तारा, सोम या चन्द्रमा अथवा शशी कहलाता है। इसलिये यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि जो देवमार्ग प्रतिपादक श्रुति में चन्द्रमा को सूर्य से भी ऊंचा लिखा है वह नक्षत्रात्मक चन्द्रमा के ही अभिप्राय से लिखा गया है क्योंकि यह हमारा पृथ्वी का चन्द्रमा सूर्य से ऊंचा हो नहीं सकता। इसी प्रकार पितृमार्ग प्रतिपादक श्रुति में जो चन्द्रमा का नाम लिखा गया है, जिसको कि हम प्रति दिन देखते हैं। इस प्रकार दोनों श्रुतियों के चन्द्रमाओं को भिन्न २ मानने से श्रुतियों का अर्थ बड़े आनन्द के साथ लग सकता है किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रहता। वस्तुतः इन श्रुतियों में एक जगह नक्षत्रात्मक चन्द्रमा को मानना और अन्य जगह ग्रहात्मक चन्द्रमा को मानना अत्यन्त ही युक्ति संगत प्रतीत होता है क्योंकि नक्षत्र शब्द का अर्थ है स्थिर रहना, और ग्रह शब्द का अर्थ है चलना। इसलिये देव मार्ग से जाने वाले सूर्य लोक, चन्द्रलोक आदिक आक्रमण करते हुए नक्षत्रा ( स्थिर ) रूपक ब्रह्म लोक में जाते हैं। अर्थात् ब्रह्मलोक भी नक्षत्र पिंड ही है। इसलिये स्थिर लोक को प्राप्त हो कर पुनरावृत्ति को प्राप्त होना युक्ति संगत है, क्योंकि नक्षत्र शब्द का अर्थ ही स्थिर होना है। इसी प्रकार गमन शील चन्द्रमा को प्राप्त हो कर पितृमार्ग वालों का पृथ्वी लोक में पुनः २ आवागमन होना भी युक्ति संगत है क्योंकि ग्रह शब्द का अर्थ ही गमन शील है। मालूम होता है कि इन दो प्रकार के भावों को लेकर ही वेदों में, इन दो प्रकार के मार्गों की कल्पना की होगी। अब पाठक! भली प्रकार से जान गये होंगे कि देव मार्ग प्रतिपादक श्रुति का चन्द्रमा नक्षत्र है, इसीलिये वह नक्षत्रों की कक्षा में है, और नक्षत्रों में ही गिना जाता है। जब चन्द्रमा नक्षत्र भी है और नक्षत्रों में गिना भी जाता है तो भगवान् का "नक्षत्राणामहं शशी" कहना भी अत्यन्त ही युक्ति संगत है। तथा भागवत् में भी चन्द्रमा को जो सूर्य से भी ऊंचा माना है, वह इसी अभिप्राय से माना गया है। वस्तुतः 'नक्षत्राणामहं शशी' का, तथा छांदोग्योपनिषत् की उक्त दोनों श्रुतियों का ठीक २ अर्थ किसी भी टीकाकार से लगा ही नहीं।

---

# तप

( ले० श्री महात्मा राम आश्रम )

संसार में जितनी शक्तियां हैं उन सब का एक मात्र तप ही मूल है जिस पुरुष ने तप नहीं किया उसको कर्म का फल भी नहीं मिलता कारण यह है कि तप से ही सर्व प्रकार के कर्मों की सिद्धि होती है । ब्रह्माजी ने तप से ही इस जगत् को उत्पन्न किया है तथा ऋषियों ने तप करके ही वेदों को प्राप्त किया है तप करके ही ऋषि मुनियों ने छः प्रकार के ऐश्वर्य को तथा अष्ट सिद्धियों को प्राप्त किया है। तप से समस्त पापों का नाश हो जाता है। जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो तप से प्राप्त न हो सके। विश्वामित्र ने तप के प्रभाव से ही ब्रह्म ऋषि पद को प्राप्त किया तथा त्रिशंकु राजा को सदेह स्वर्ग में पहुंचाया। राजा दशरथ ने पूर्व जन्म के तप से ही राम जैसे पुत्र को प्राप्त किया। तप से महान् शक्ति को प्राप्त होने वाले अनेक राजाओं के इतिहास विद्यमान हैं। तप से ही भगवान् की विचित्र सृष्टि का ज्ञान होता है तथा स्वयं भगवान् भी तप से ही प्रसन्न होते हैं ऐसी अनेक कथायें हैं।

श्रुतिः—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा'।

सत्य से और तप से ही यह आत्मा प्राप्त होने योग्य है। वह तप अनेकों प्रकार का है। भिन्न २ द्वारों से उस तप का जगत् में प्रचार है। सर्व तपों में निराहार तप उत्कृष्ट माना है। जो निवृत्ति पूर्वक मनुष्य काम और वैभवों को त्याग कर जीवन बिताता है उससे भी निराहार रहने वाले का तप श्रेष्ठ है। अहिंसा, सत्य बोलना, दान, इन्द्रियों को वश में रखना इन सब की अपेक्षा भी निराहार तप उत्कृष्ट है।

वृद्ध माता पिता की सेवा करना सब से बड़ा धर्म है। त्रय वेद पाठी ब्राह्मण सबसे बड़ा है। सर्वस्व त्याग के समान और कोई कठिन तप नहीं है परन्तु निराहार रहने के समान कोई भी तप नहीं है। निराहार रहने वाले पुरुष की सर्व प्रकार की चेष्टा स्वतः ही निवृत्त हो जाती है। मन निर्मल हो कर शान्त हो जाता है। क्योंकि मन अन्न का विकार रूप है। शुद्ध और शान्त मन में आत्मा के सुख का अविर्भाव होता है। यद्यपि मन्वादि स्मृतियों में मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता को ही सब से बड़ा तप कहा है परन्तु निराहार रूप तप के बिना मन इन्द्रियों का एकाग्र होना असंभव है इसी कारण से भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर के प्रति इस निराहार तप की उत्कृष्टता बतलाई है। अब सत्य को कहते हैं जो सब का आधार रूप है उस सत्य की व्याख्या भीष्म-पितामह ने राजा युधिष्ठिर के प्रति की है। जिस को सत्य कहते हैं वह सब प्रकार के विकारों से रहित है, वह सत्य सत्पुरुषों में रहता है और वही धर्म कहलाता है। सत्य ही सनातन धर्म है, इसलिये सत्य को नमस्कार है, सत्य ही परमगति है। वह सत्य १३ प्रकार का है।

'सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥
त्यागो ध्यान मथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया

अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥

समता, दम, मत्सरता न होना, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, असूया न करना, त्याग, ध्यान, आर्यता, धैर्य, नित्यदया करना और अहिंसा। यह सत्य नित्य अविकारी और अविनाशी है तथा सर्व धर्मों के अनुकूल है और योग से प्राप्त होता है।

आत्मनीष्टे तथानिष्टेप्सी च समता तथा।
इच्छाद्वेष क्षयं प्राप्य काम क्रोध क्षयं तथा ॥

इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध का नाश करके अपने प्रिय के ऊपर समदृष्टि रखने को समता कहते हैं।

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गांभीर्यं धैर्य मेव च।
अभयं रोग शमनं ज्ञाने नैतदवाप्यते ॥

किसी के धन की इच्छा न करे, नित्य गंभीरता रक्खे, धैर्यवान हो, किसी का भय न करे निरोग रहे ऐसे वृत्त का नाम दम है ज्ञान से दम की प्राप्ति होती है।

अमात्सर्यं बुधाः प्राहु र्दाने धर्मे च संयमः।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामात्सरी भवेत् ॥

दान में श्रद्धा रक्खे, धर्माचरण के नियम का पालन करे इसको विद्वान् मत्सर शून्यता कहते हैं। मनुष्य नित्य दृढ़ रह कर सत्य धर्म का आचरण करता है तब ही मत्सर रहित होता है।

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहा प्रियाणि च।
क्षमते सममतः साधुः साधवाप्नोति च सत्य वाक् ॥

सत्पुरुषों में मान्य और सत्य वादी सत्पुरुष अपने को प्रिय और अप्रिय लगने वाली बातों को सुनता रहे इसको क्षमा कहते हैं सत्यवादी पुरुष को ही क्षमा का लाभ होता है।

कल्याणं कुरुते यादृ धीमान्न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्त वाङ् मना नित्यं ह्रीमान् धर्मा दवाप्यते ॥

बुद्धिमान पुरुष दूसरों का कल्याण करने में कभी खिन्न चित्त नहीं होता है तथा जिसका वाणी और मन शान्त रहता है उस पुरुष में लज्जा रहती है। यह लज्जा धर्माचरण से प्राप्त होती है।

धर्मार्थं हेतोः क्षमते तितिक्षा शान्ति रुच्यते।
लोक संग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥

धर्म के लिये पुरुष दूसरों पर क्षमा करता है उसका नाम तितिक्षा है इसको शान्ति भी कहते हैं। इस गुण से सब लोग वश में हो जाते हैं। धैर्य से इस गुण का लाभ होता है।

त्यागः स्नेहस्य विषयाणां तथैव च।
राग द्वेष प्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥

स्नेह और विषयों को छोड़ देने का नाम त्याग है जो पुरुष राग द्वेष रहित होता है उससे ही त्याग हो सक्ता है दूसरे से नहीं।

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥

जिस गुण से मनुष्य उद्योग के साथ प्राणियों का भला करता है और स्वयं रागादिकों से जो अलिप्त रहता है उस गुण का नाम आर्यता है।

इतिनाम सुखे दुःखे यथा प्राप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद्भूति मात्मनः ॥

जो पुरुष सुख दुःख प्राप्त होने पर हर्ष-शोक रूप विकार को नहीं पाता है उस गुण का नाम धैर्य है। अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को नित्य ही धैर्य का सेवन करना चाहिये। जो पुरुष सदा सत्य वादी और क्षमाशील होता है तथा हर्ष शोक भय क्रोध से रहित होता है वह पण्डित धैर्य को पाता है।

अद्रोहः सर्व भूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानश्च सतां धर्मः सनातनः ॥

मन वाणी तथा कर्म से किसी प्राणी का द्रोह न करे सब के ऊपर अनुग्रह (दया) करे प्रीति पूर्वक दान करे यह सत्पुरुषों का सनातन धर्म कहा जाता है। सत्य के गुणों का कोई पार नहीं है इसलिये सब सत्य की प्रशंसा करते हैं। सत्य के समान कोई धर्म नहीं है और असत्य के समान पाप नहीं है। धर्म सत्य के ही आश्रय रहता है इसलिये कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। सत्य से दान का फल, दक्षिणा सहित यज्ञों का फल, एक हजार अश्वमेध यज्ञों का फल इन सब के फल को एक तरफ और सत्य के फल को एक तरफ पलड़े में धर के यदि तोला जाय तो सत्य का पलड़ा भारी होगा। वास्तव में विचार से देखा जाय तो सत्य की तुलना हो भी कैसे सकती है क्योंकि सत्य ही तो भगवान का स्वरूप है। सत्य ने ही इस चराचर रूप समस्त ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। वह सत्य स्वरूप भगवान् इस दृश्यमान जगत् में समाया हुआ है। उस भगवान् को यदि कोई पा सकता है तो सत्य से ही पा सकता है। इसलिये हम को सत्य, दम और तप के द्वारा परमेश्वर की खोज करनी चाहिये।

---

# परब्रह्म परमात्मा

(ले० श्री यमुना प्रसाद श्री वास्तव)

मनुस्मृति में लिखा है कि पहिले यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म अर्थात् आत्मा में लीन था और जिस तरह मनुष्य नींद अथवा ध्यान से सजग हो कर सोचने लगता है कि 'कौन हूं ? और क्या हूं' ? इसी तरह परमेश्वर ने सोचा तो उनके अन्तःकरण में यह कल्पना उद्भूत हुई कि 'मैं ब्रह्म हूं'। इस कल्पना के उद्भूद होते ही उसने 'एकोऽहं बहु स्यामि' अर्थात् एक से अनेक हो जाने की इच्छा से अपना स्वयंभू रूप धारण किया और अपने शरीर से विविध प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की अभिलाषा से प्रथम जल उत्पन्न किया और उसमें बीज डाला। बीज पड़ने से एक सुवर्ण के समान तेजस्वी अण्ड उत्पन्न हुआ। इस अण्ड में ब्रह्मदेव उत्पन्न हुए। ब्रह्मदेव एक वर्ष पर्यन्त अण्ड के भीतर रहे। पीछे वे अण्ड से बाहर निकले और अण्ड के छिलके के दो विभाग किये। उनसे पृथ्वी और आकाश निर्माण हुए। इसके पीछे सब देवता, यज्ञ, वेद, काल, नक्षत्र और ग्रहों को उत्पन्न करके, नदी पर्वत और समुद्र बनाये। इसके उपरान्त लोक वृद्धि की कामना से उन्होंने मुंह से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्रों को उत्पन्न किया। इतने पर भी, मनु महाराज कहते हैं, कि ब्रह्मदेव को विश्वास नहीं हुआ कि सृष्टि का क्रम जारी हो सकेगा। तब उन्होंने अपनी देह के दो भाग कर एक को पुरुष और दूसरे को स्त्री बनाया और उस अर्द्धांङ्गनी देवी से विराट पुरुष को निर्माण किया। विराटने मनु, मनु ने मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त, पुलह, क्रतु, प्रचेत, वसिष्ट और नारद दक्ष प्रजापति और इन प्रजापतियों ने बड़े २ महर्षि निर्माण किये

और महर्षियों ने सर्व प्रकार की सृष्टि उत्पन्न की और सृष्टि का विस्तार बढ़ाया। अतः ब्रह्मदेव ही मानव-जाति के मूल पुरुष हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जी ने कहा भी है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥'

अर्थात् मैं ही इस संपूर्ण जगत् का धारण करने वाला एवं कर्मों का फल देने वाला तथा पिता माता और पितामह हूं और जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूं।

उपनिषद् में यह भी लिखा है कि पंचतत्व और एक आत्मा के आधार पर परमात्मा पंचीकरण द्वारा संपूर्ण ब्रह्माण्ड के प्राणधारियों की रचना किया करता है। तत्वों आदि का ब्यौरा इस प्रकार है:-

१. पंचतत्वः-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी।

२. पंच कर्मेन्द्रियः-हाथ, पांव, मुख, गुदा और उपस्थ।

३. पंचज्ञानेन्द्रियः-कर्ण, त्वचा, नेत्र नासिका और रसना।

४. पंच प्राणः-प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान।

५. चार अन्तःकरणः-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।

६. आत्मा

और इन्द्रियों तथा उनके अभिमानी देवताओं का विवरण इस प्रकार है:-

| | इन्द्रियां | विषय | देवता |
|---|---|---|---|
| १ | कान | सुनना | दिग् |
| २ | त्वचा | स्पर्श | वायु |
| ३ | चक्षु | देखना | सूर्य |
| ४ | जिह्वा | रस | वरुण |
| ५ | नासिका | सूंघना | पृथ्वी |
| ६ | वाक् | बोलना | अग्नि |
| ७ | पाद | चलना | विष्णु |
| ८ | गुदा | मल त्याग करना | मृत्यु |
| ९ | उपस्थ | मूत्र त्याग करना | प्रजापति |
| १० | मन | मनन करना | चन्द्रमा |
| ११ | बुद्धि | निश्चय करना | ब्रह्मा |
| १२ | अहंकार | अभिमान करना | रुद्र |
| १३ | हस्त | लेना देना | इन्द्र |
| १४ | चित्त | निर्णय करना | चित्र गुप्त |
| १५ | तम | विकारी | ईश्वर |

सम्पूर्ण इन्द्रियां इन्हीं देवताओं की शक्ति से कार्य करती हैं। यदि किसी कारण से किसी देवता की चौकी उठ जाती है तो यह अंग वे काम हो जाता है।

परब्रह्म परमात्मा भी जीव मात्र से मानव शरीर में जा बैठा है। किसी ने कहा भी है:-

दर बशर रुपोश कर्दस्त आफताब।
फहम कुन अल्लाह आलम बिल सवाब॥

अर्थात्:-

भानु रूप मालिक सुन भाई।
नर देही में रहा छिपाई॥

और वह नाभि से दश अंगुल की दूरी पर हृदय रूपी गुहा में स्थित है:-

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूत भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
एतद्वैतत्॥
अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूम्रकः।
ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥

भावार्थ

अंगुष्ठ मात्र पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्राणीमात्र की हृदय रूपी गुहा में स्थित है। वही पुरुष भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों काल का ईश्वर है। वही आत्मा ब्रह्म है॥

अंगुष्ठ मात्र पुरुष अन्तःकरण रूपी गुहा में धूम्र रहित प्रकाश के समान योगियों द्वारा निश्चय किया गया है। वही तीनों कालों का ईश्वर है और वही ब्रह्म है॥

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा अर्थात् ईश्वर के दो अंश हैं एक जड़ और दूसरा चैतन्य। इन्हीं दोनों अंशों के कारण उसे साकार अथवा सगुण और निराकार अथवा निर्गुण कहते हैं। मानव शरीर का भी यही हाल है उसके जड़भाग को सगुण और चैतन्य भाग को जो बिना शरीर का है निर्गुण कहते हैं। चैतन्य अवस्था की दृष्टि से जीवात्मा और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। भेद केवल जड़ भाग में है और उसका सम्बन्ध माया से है। परन्तु वह उपाधि की दृष्टि से है। उपाधि के दूर होते ही सर्वज्ञता और अज्ञानता का विचार अपने आप नष्ट हो जाता है। साधारण मनुष्य ईश्वर के शरीर, ईश्वर के मन, और ईश्वर की आत्मा को मिला जुला कर ईश्वर का विश्वास दृढ़ करते हैं। यह सगुण उपासना है। ज्ञानी मनुष्य केवल ईश्वर की आत्मा को लक्ष्य में रख कर ईश्वर की आराधना करते हैं। यह निर्गुण उपासना है। पंच सूक्ष्म भूत, पंच सूक्ष्म प्राण, पंच कर्मेन्द्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रिय मिल कर जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर बनता है और संपूर्ण जीवों का सूक्ष्म शरीर मिलकर ईश्वर का सूक्ष्म शरीर होता है। इसी से ईश्वर को सर्व व्यापी कहते हैं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

यह सब कुछ ब्रह्म ही है सृष्टि और जीवधारियों की सामूहिक व्यवस्था का नाम ईश्वर है। इस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड जिसको जगत कहते हैं ईश्वर का स्थूल शरीर है। मानव शरीर का भी यही हाल है। अंग और इन्द्रियां मिल कर शरीर कहलाता है। अतः शरीर ही जीवात्मा का स्थूल शरीर है।

इस हिसाब से ईश्वर का स्थूल शरीर बड़ा ब्रह्माण्ड और जीवात्मा का स्थूल शरीर छोटा ब्रह्माण्ड है जो पिंड कहलाता है। मतलब यह कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है।

'पिंडे सो ब्रह्माण्डे।'

'विराट' ईश्वर की जाग्रत अवस्था का स्थूल रूप है। विराट के हृदय में ईश्वर की स्वप्नावस्था का सूक्ष्म रूप है। उसे 'ओंकार' अथवा 'ओ३म्' कहते हैं। 'ओ३म्' यह त्रिलोकी की कुञ्जी है। वेदों में उसे मूल मन्त्र अथवा बीज मन्त्र के नाम से सम्बोधन किया है। ज्ञान की प्राप्ति बिना 'ओ३म्' की सहायता के असम्भव है। 'अ' उत्पत्ति 'उ' स्थिरता और 'म' प्रलय का द्योतक है। विराट पुरुष की सृष्टि में स्थूल रूप से और ओंकार पुरुष की सृष्टि में सूक्ष्म रूप से रचना और प्रलय आदि होती है। सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि दोनों में एकसा व्यवहार होता है। अन्तर केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का है। शुद्ध सतोगुण सहित माया ईश्वर का कारण शरीर और मलिन सतोगुण सहित अविद्या जीवात्माओं का कारण शरीर कहलाता है। अविद्या के कल्पित मेल से ही जड़ और चैतन्य की ग्रन्थि पड़ गई है। शुद्ध सतोगुण ही के कारण जीवों में अन्धकार रहता है। तात्पर्य यह है कि जो परब्रह्म परमात्मा

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वही मानव शरीर में आत्म रूप से विद्यमान है। उसी के प्रकाश में समस्त इन्द्रियां अपना अपना काम करती हैं।

भक्ति के प्रिय पाठको! इसी भाव को हृदय में दृढ़ कर लेने से आत्मा की एकता, नित्यता, और शुद्धता का ज्ञान उदय होता है, सारी अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं और मुक्ति मिलती है इस विषय में एक बढ़िया श्लोक है:-

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्।
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्व्याप्तितं दृश्यताम्॥
प्राक्कर्म प्रविलोप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम्।
प्रारब्धमिह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥

एकान्त निर्जन स्थान में सुख से बैठना और परब्रह्म परमात्मा में ध्यान लगाना चाहिये। पूर्णात्मा पूर्ण ब्रह्म से साक्षात् करना और इस जगत् में उस पूर्ण ब्रह्म को व्याप्त समझना चाहिये। पूर्व जन्मों के कर्मों का लोप करना और ज्ञान के प्रभाव से इस जन्म के कर्मों के फलों को त्याग देना चाहिये अर्थात् निष्काम कर्म करना चाहिये जिससे कर्म के बन्धन में बन्ध कर फिर जन्म न लेना पड़े। इस संसार में पूर्व जन्म के कर्मों को भोगना और इसके पश्चात् परमेश्वर रूप से इस जगत् में विचरना चाहिये अर्थात् अपने में और परमात्मा में कोई भेद भाव न समझना चाहिये।

---

# ईश्वराज्ञा

( ले० श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी "विशारद" भगवद्भक्ति आश्रम )

श्री भगवान वेद में मनुष्यों के कल्याण के लिये आज्ञा करते हैं।

सत्यमहं गभीर काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदा।
न मे दासो न मे आर्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये॥

हे मनुष्यो! मैं सत्य स्वरूप महागम्भीर सत्य विद्या के प्रकट करने से ज्ञातवेदा हूं। मैं किसी दास तथा आर्य का पक्षपात नहीं करता हूं जो मेरी आज्ञा को मानेगा उसी का मैं उद्धार करूंगा।

परमेश्वर सत्यस्वरूप हैं। वे हमें प्रेरणा करते हैं कि 'हम भी अपना स्वरूप सत्य बनायें। "अस्तीति सत्, सतः भावः सत्यं" जो है अर्थात् जिसकी तीनों कालों में सत्ता है वह सत्य-परमेश्वर है। सम्पूर्ण संसार मिथ्या है। एक ईश्वर ही ध्रुव सत्य है। माया अनित्य है और माया का कार्य भी अनित्य है। इसी लिये भगवान् चाहते हैं कि सब जीव मुक्त सत्य स्वरूप को प्राप्त हों। अब यह विचारणीय विषय है कि सत्य स्वरूप परमात्मा को हम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। बहुत विचारने पर बुद्धि इसी निर्णय पर आती है कि सत्य स्वरूप को सत्य से ही पा सकते हैं।

हमारे जीवन में सत्य तीन विभागों में विभक्त है। १ सत्य भावना, २ सत्य भाषण, ३. सत्य आचरण। सर्व प्रथम हमारी भावना हमारे विचार सत्य हों। यदि हमारे विचार सत्य हैं तो हम को भय नहीं "सत्येनास्ति भयं किञ्चित्" सत्य भावनाओं से मनुष्य का आत्म विकाश बहुत शीघ्र हो जायगा। जिस का आत्म विकाश हो गया उसकी जीवन संग्राम में पूर्ण विजय है। संसार

की महान से महान् शक्ति उसको विचलित नहीं कर सकती क्योंकि वह ध्रुव सत्य पर आरूढ़ है। इस सत्य की नौका पर चढ़ कर संसार की दृष्टि में जो दीन व हीन हो वह भी परम उच्च पद पर चढ़ कर विजय दुन्दुभी बजायेगा। उसकी दबी हुई सारी शक्ति विकसित हो जायेगी। वह अपने जीवन से संसार का परम उपकार कर जायगा। अपने साथियों को आदर्श पथ पर आरूढ़ कर जायगा। परन्तु विचारना यह है कि मनुष्य उस सत्य भावना को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? मनुष्य के हृदय में सत्य किस तरह जम सकता है? यहां शास्त्रों के अनेक मत हैं। विद्वानों की पृथक् २ सम्मतियां हैं। जिस वस्तु का निर्णय हो जाय उसके अनुष्ठान में इतनी उलझन नहीं पड़ती जितनी कि अनिर्णित विषय के आचरण में पड़ती है। सत्य का निर्णय एक महान निर्णय है। इसमें सब ने अपनी२ बुद्धि से छानबीन की है। परन्तु वास्तविक सत्य यथार्थ ज्ञान की स्थापना तभी होती है जब कि मिथ्यात्व का नाश हो जाय। मनुष्य को सत्य का ज्ञान हो जाय तो वह प्रयत्न से मिथ्यात्व का नाश भी कर सकता है परन्तु ज्ञान के बिना कोई क्या करे। जब ऐसी स्थिति उपस्थित है और कोई सत्य भावना स्थापन करने का साधन दृष्टि गोचर नहीं होता तो वेद भगवान् की ही शरण लेना उचित है। क्योंकि वेद, भगवान् की आज्ञा है और स्वतः प्रमाण सब को सत्य मार्ग बताने वाला अथाह ज्ञान का भण्डार है। वेद में कहा है:-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति

अज्ञान की निद्रा में सोये हुये हे मनुष्यो! उठो, जागो और श्रेष्ठ महापुरुषों को प्राप्त हो कर ज्ञान का सम्पादन करो। यह (सत्यान्वेषण का मार्ग) क्षीण पैने छुरे की धार के समान दुःख से प्राप्त करने योग्य है ऐसा विद्वान् कहते हैं। वास्तविक सत्य मार्ग यही है जिसकी प्राप्ति में क्लेश उठाना पड़ता है। इस मार्ग का अनुसरण करने से शनैः २ अन्तःकरण की शुद्धि होने से साधक की भावना स्वतः सत्य हो जायेगी। क्योंकि हम सत्य का आचरण करने में लग जायेंगे तो भावनाओं का सत्य होना आवश्यक है। फिर हम को मिथ्यात्व से घृणा हो जायगी। सत्याचरण और सत्य भावना से सत्य भाषण भी स्वाभाविक ही होगा।

उक्त मन्त्र में भगवान् ने कहा है 'मैं सत्य स्वरूप हूं और महागम्भीर सत्य विद्या के प्रकट करने से जात वेदा हूं'। भगवान् की वेदोक्त सत्य विद्या का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त करना चाहिये। अज्ञान से अपने आत्मा का उद्धार करना चाहिये। अपने को दीन हीन न समझ कर ईश्वर ज्ञान का अधिकारी बनाना चाहिये।

भगवान् के यहां सब एक हैं, वे कहते हैं "न मे दासो न मे आर्यो" मुझे दास या आर्य का पक्षपात नहीं है, जो मेरी आज्ञा का पालन करेगा उसका ही मैं उद्धार करूंगा। भगवान् की यह आज्ञा प्रत्येक मनुष्य के परमकल्याण के लिये है। जो मनुष्य इस भगवान् की आज्ञा रूप मोक्ष सोपान को छोड़ कर अन्य संसार के संकुचित भावों में अपने अमूल्य समय का दुरुपयोग करते हैं वे अपने को आप ही मकड़ी के समान माया के जाल में फांस लेते हैं। वे निरन्तर जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं। उनको सुख शान्ति कभी नहीं मिल सकती। अतः प्रत्येक मनुष्य को ईश्वराज्ञा का पालन करना चाहिये यही कल्याण मार्ग है।

# भजन

जावो हे मेरे साधु अपने गुरु के संग ॥ टेक ॥
सोलह वर्ष पर आये थे इक दिन शान्त रहे हमलोग।
अब फिर छोड़ चले हम सबका कहो यह कौन है ढंग
जितनी दूर भी जाय रहोंगे हृदय ही के समीप।
ऐसे ही तुम हर एक युग में बदलो हरएक रंग ॥
जावो परमेश्वर को भजते करो भलाई सब की।
सब संसारी गुण गावेंगे पूरण नाम के संग ॥

२

सब छोड़ के झगड़े दुनियां के,
अब वृन्दावनको जाना है ॥
वहां जाकर अपने मोहन से सब की,
दिल की विपत सुनाना है ॥ टेक ॥
आवो दर्श दिखावो नन्द लाला,
जरा जलवा दिखावो दन्द लाला।
अब यहाँ पर फूंकत मन मेरा,
अब कब मुखड़ा दिखलाना है ॥ २ ॥
दिन रैन नहीं है चैन मुझे,
हां बांके बिहारी मदनमोहन।
अब दर्शन दीजे वेग मुझे,
यह भक्त तेरा दीवाना है ॥ ३ ॥

३

प्रभु जी आपके गुण गाने वाले और होते हैं।
तुम्हारे नाम पर मिट जाने वाले और होते हैं ॥टेक
पिलाकर प्रेम की मदिरा बनाले मुझको मतवाला।
वो शाकी और हैं वो पीने वाले और होते हैं ॥
मचे संसार में हल चल वो तीनों धाम हिल जायें।
वो आहें और होती हैं वो नाले और होते हैं ॥

४

हे प्रभो तेरी निराली शान है,
सांच वालों को तेरी पहचान है ॥ टेक
मन्दिरों में मस्जिदों में है वहो,
मेरे हृदय में मेरा भगवान है ॥ १ ॥
मुझ को बालक जानकर मत भूलना,
दास है तेरा मगर नादान है ॥ २ ॥

५

मुझे अपना जलवा दिखा बंशी वाले।
मेरी जान तुझ पर फिदा बंशी वाले ॥टेक
गुनाहों के दरिया में डूबा हूं जाता।
बचा बंशी वाले बचा बंशी वाले ॥ १ ॥
तेरे सिवा मेरा कोई नहीं है।
तू ही आशरा है मेरा बंशी वाले ॥ २ ॥
तेरे दरपै आया गुनहगार बन्दा।
तू अपने गले से लगा बंशी वाले ॥ ३ ॥

६

राधा के कृष्ण प्यारे बंशी बजाके जाना ॥
अमृत की प्रेम बाणी मुझको सुनाके जाना ॥टेक॥
फिरते हैं मारे मारे आये हैं तेरे द्वारे।
धूरी के कृष्ण प्यारे अपना बनाके जाना ॥ १ ॥
गौवें पुकारती हैं दम तेरा मारती हैं।
यह दिल में पुकारती हैं हमको चराके जाना ॥२॥
शांवल दास आया चरणों में आ समाया।
तेरा नाम दिलमें भाया दर्शन दिखाके जाना ॥ ३ ॥

७

बजाके बांसुरी मोहन हमें बुला लेना ॥
दिखाके झांकी दिवानी हमें बनालेना ॥ टेक ॥
नजारा जमुना के तटका कहाँ वो सुन्दर बन।
ग्वाल बाल समझ कर हमें बुला लेना ॥ १ ॥
हजारों वर्षों से घन श्याम जा छुपे हो कहाँ।
न जर से होंगये निबाह जरा हमें बुला लेना ॥२॥

---

REG DNo. L 2077

# भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | भगवद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता | मूल्य | ॥=) |
| २. | भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त ... | ,, | ।=) |
| ३. | गीता मूल ( मोटा टाइप ) ... ... | मूल्य नित्य पाठ | |
| ४. | वेदोपनिषद् ... ... | | ।=) |
| ५. | अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला ... ... | ,, | =)। |
| ६ | ज्ञानधर्मोपदेश ... ... | ,, | =)॥। |
| ७. | भक्ति ज्ञान योग संग्रह ... ... | ,, | =)॥ |
| ८. | सत्य शब्द संग्रह (गुटका) ... ... | ,, | =) |
| ९. | सत्य शब्द संग्रह ... ... | ,, | ॥=) |
| १०. | शब्द सदाचार संग्रह ... ... | ,, | =)॥। |
| ११. | शब्द सार संग्रह ... ... | ,, | =)। |
| १२. | शब्दसंग्रह ... ... | ,, | =)॥ |
| १३. | सारसंग्रह ... ... | ,, | ) |
| १४. | भाषा फक्किका प्रकाश ... ... | ,, | ।=) |
| १५. | मनुस्मृति सार ... ... | ,, | ॥) |
| १६. | भक्ति चिन्तामणि ... ... | ,, | ।=) |
| १७. | भगवद्भक्तांक ... ... | ,, | ॥=) |
| १८. | भगवदंक ... ... | ,, | ॥) |
| १९. | गुरुांक ... ... | ,, | १) |
| २०. | महात्मांक ... ... | ,, | १) |

नोटः-एक रुपये से कम मूल्य की पुस्तक मंगाने वालों को डाक महसूल सहित टिकट भेजने चाहियें।

मिलने का पताः-

**श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।**

मुद्रक तथा प्रकाशक भूमानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।